लोक साहित्य माला

सातवीं पुस्तक



हमारे

अधिकार और कर्त्तव्य

क[illegible]चन्द्र विद्यालंकार

सस्ता साहित्य मण्डल
दिल्ली

जीवन के भिन्न-भिन्न अंगों में नियन्त्रित स्वतंत्रता-संबंधी जो विचार उत्पन्न हो सकते हैं, उनकी सरल भाषा में इसमें अच्छी मीमांसा की गई है। पुराने और नये, पाश्चात्य और पूर्वी लेखकों के विचारों का संग्रह करके अपने मत की पुष्टि करते हुए अपने पाठकों को अच्छी और व्यवहार्य सलाह भी दी है।

श्रीप्रकाश

[८८ : ७]

हमारे

अधिकार और कर्त्तव्य

प्रस्तावना लेखक

श्री० श्रीप्रकाश एम० एल० ए०

लेखक

कृष्णचन्द्र विद्यालङ्कार

सस्ता साहित्य मण्डल

दिल्ली : लखनऊ

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

संस्करण
मई १९३९ : २०००
मूल्य
आठ आना

मुद्रक,
एस० एन० भारती,
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
नई दिल्ली।

प्रस्तावना

देश के सार्वजनिक क्षेत्र में थोड़ा बहुत काम करते-करते पचीस वर्ष मुझे भी हो गये। जब स्कूल और कालेज में पढ़ता था, तब भी विद्यार्थी-सम्बन्धी कुछ-न-कुछ सार्वजनिक काम करने का शौक़ था ही। इतने दिनों और विविध क्षेत्रों में काम कर चुकने के बाद यह प्रश्न मेरे मन में इधर कुछ दिनों से बराबर बडे वेग से उठ रहा है कि क्या वजह है कि इतना त्याग और परिश्रम करनें पर भी, हर क्षेत्र में इतने बडे-बडे सुयोग्य नेताओं के होते हुए भी हम भारतवासी सामूहिक रूप से वास्तविक उन्नति नहीं कर पा रहे हैं ? देश वहीं का वहीं क्यों पड़ा हुआ है ?

मैं तो इसी नतीजे पर पहुँच सका कि इसका मूल कारण यही है कि हमारे जन-साधारण में नागरिकता के गुणों का पूर्णतया अभाव है। थोडे से बडे बडे व्यक्ति-विशेष हो ही कर क्या करेंगे, जब साधारण नर-नारी, ग्राम और शहर के वासी, अपने प्रतिदिन के अपने अधिकार और कर्तव्य को नहीं जानते और अपने जीवन को असंघटित रखकर सारे समाज का विच्छेद करते हैं। मैं स्वयं भी एतत्सम्बन्धी विषयों पर लिखता बोलता रहा और जब श्रीकृष्णचन्द्र विद्यालंकारजी ने अपनी पुस्तक 'हमारे अधिकार और कर्तव्य' मुझे दिखलाई तो मुझे विशेष प्रसन्नता हुई और जब उन्होंने उसकी प्रस्तावना लिखने का आग्रह मुझसे किया, तो मैंने उससे अपने को सम्मानित माना।

अधिकार और कर्तव्य ये एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। जो पाना किसी व्यक्ति का अधिकार होता है, उसे करना दूसरे का कर्तव्य होता

है। जो करना किसी व्यक्ति का कर्तव्य होता है, वही पाना दूसरे का अधिकार होता है। समाज में देना-पावना हर क्षण लगा रहता है। इस कारण यह दोनों एक-दूसरे से ऐसे सम्बद्ध हैं कि इन्हें पृथक् करके देखना असम्भव है। ऐसी अवस्था में इटली के विधायक मात्सीनी की तरह, जिनका उल्लेख उचित प्रकार से इस पुस्तक में किया गया है, मुझे भी यही ठीक प्रतीत होता है कि कर्तव्यों पर ही अधिक जोर देना चाहिए। कर्तव्य पालन करने से अपना उपयुक्त अधिकार स्वयं ही मिल जायगा।

कर्तव्य की ही शिक्षा देना अधिक उचित भी है। इससे मनुष्य अपने ही अधिकार न देख दूसरों के अधिकारों को पहचानता है और समाज में अपना स्थान समझता है। अधिकारों पर ही जोर देने से अपनी प्रकृति के विवश मनुष्य की भावना कुछ दूसरी ही होजाती है और वह संसार की रचना अपने सुख के लिए समझने लगता है। पुस्तक रचयिता ने एक अच्छी और नई शैली निकाली है और अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए उन्होंने किसी नवयुवक के नाम पत्र लिखे हैं। जीवन के भिन्न-भिन्न अंगों में नियन्त्रित स्वतन्त्रता-सम्बन्धी जो विचार उत्पन्न हो सकते हैं, उनकी सरल भाषा में आपने अच्छी मीमांसा की है। पुराने और नये, पाश्चात्य और पूर्वी लेखकों के विचारों का संग्रह करके अपने मत की पुष्टि करते हुए अपने पाठकों को अच्छी और व्यवहार्य सलाह भी दी है। पुस्तक से सुन्दर तरह से प्रतीत होजाता है कि समाज को सुसंघटित करने और उसे सुचारू रूप से चलाने की भावना और आकांक्षा सब ही विचार-वानों के मन में कितने दिनों से चली आ रही है।

हम बहुत दिनों तक व्यक्तिवादी रह चुके। अपनी-अपनी डफली अलग-अलग बहुत बजा चुके। अपनी आत्मा के मोक्ष की खोज के बहाने बहुत स्वार्थ-साधन भी कर चुके। अपने महत्त्व की आकांक्षा से देश

को ख़राब भी बहुत कर चुके। आवश्यकता अब इसकी है कि व्यक्ति और समष्टि का परस्पर का समुचित सम्बन्ध स्थापित हो और हमारे दलित समाज का उत्थान और उद्धार हो। नागरिकता के सच्चे ज्ञान से ही यह सम्भव है।

अस्पृश्यता और अविश्वसनीयता यह हमारी दो विशेषतायें रही हैं। और यें ही हमारी महा त्रुटियाँ भी रही हैं। शारीरिक अस्पृश्यता ही नहीं, हमको एक दूसरे के प्रति मानसिक अस्पृश्यता भी है। यह भाव हमें एक दूसरे से अलग रखता आया है। परस्पर के विश्वास का तो पूरा ही अभाव है। छोटे बडे किसी भी काम में कोई किसी पर वास्तव में पूर्णतया विश्वास कर ही नहीं सकता। समाज का संघटन इसी पर निर्भर करता है कि सबपर सब विश्वास कर सकें कि जो जिसका काम है, वह करेगा, जो जिसने करने का जिम्मा लिया है वह पूरा होगा, जो व्यवहार अपनेको प्रतिकूल प्रतीत होता है वैसा दूसरे के साथ कोई न करेगा, और ऐसे आचरण से सदा सब कोई परहेज करेगा, जिससे व्यर्थ का कष्ट किसीको हो अथवा उसकी सम्भावना हो। यह सब तभी सम्भव है, जब हममें नागरिकता के गुणों का सन्निवेश हो। यह अपने अधिकारों और कर्तव्यों के समझने पर ही निर्भर करता है। मुझे आशा है कि यह पुस्तक इन विषयों की आवश्यक शिक्षा देने में सफल होगी, और सर्वसाधारण इससे पूरा लाभ उठावेंगे।

सेवाश्रम, बनारस,
१२ अप्रैल १९३९।

श्रीप्रकाश

दो शब्द

संसार की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर यदि हम एक नज़र डालें, तो हमें मालूम होगा कि इनकी तह में दो मुख्य कारण हैं। कहीं तो समस्याओं का कारण यह है कि मनुष्य अपने अधिकारों को ही नहीं जानता और इसलिए वह प्रबल द्वारा कुचला जा रहा है, शोषित हो रहा है। कहीं इस नाजुक हालत का इससे भिन्न कारण है कि मनुष्य अपने अधिकारों का स्वामी है, ख़ूब शक्तिसम्पन्न है, लेकिन अपना कर्तव्य नहीं समझता और दूसरे के अधिकारों का अपहरण करने में लगा हुआ है। आर्थिक हो, राजनीतिक हो या सामाजिक, सभी क्षेत्रों में ये ही दोनों कारण आज प्राय: सभी समस्याओं के मूल में हैं। परतन्त्र देशों की, शोषित वर्गों की, दलित जातियों की तकलीफ़ें पहले कारण को दूर करने से—अपने अधिकार समझने और उन्हें पाने से दूर हो सकती हैं। स्वतन्त्र बली राष्ट्रों और सम्पन्न श्रेणियों की समस्यायें अपना कर्तव्य समझने से—दूसरे का अधिकार अपहरण न करने से हल हो सकती हैं। वेद में जहाँ एक ओर **"स्याम पतयो रयीणाम्"** कहकर धनधान्य की प्रार्थना की गई है, वहाँ दूसरी ओर **"मा गृध: कस्यस्विद्धनम्"** कहकर दूसरे के स्वत्त्व-अपहरण का निषेध भी किया गया है। दूसरे का अधिकार छीन कर हम खुशहाल न बनें।

संसार के इतिहास में ऐसा अनेक वार हुआ है, जबकि एक निर्बल जाति या श्रेणी ने निरंतर संघर्ष के बाद अधिकार पा लिये, लेकिन फिर भी उस देश में अशान्ति और संघर्ष बने ही रहे। इसका मुख्य कारण यह है कि वह स्वयं अधिकार पाकर दूसरे के अधिकार-रक्षा के अपनी

कर्तव्य को भूल गये। वे पहले स्वयं शोषित थे, पीड़ित थे, अब शोषक और पीड़क बन गये। अधिकार और कर्तव्य के समन्वय से ही दरअसल संसार की समस्याओं का हल हो सकता है। जहां स्वयं उन्नति करना बहुत ज़रूरी है, वहां दूसरे की उन्नति भी उससे कम ज़रूरी नहीं है। अधिकार और कर्तव्य के इस विवेचन का आधुनिक परिभाषा में नाम 'नागरिक शास्त्र' है।

यों तो आज हम भारतीयों को बहुत-कुछ सीखना है, लेकिन नागरिक शास्त्र की शिक्षा हमारे लिए बहुत अधिक ज़रूरी है, क्योंकि न हम अपने अधिकार समझते हैं न अपने कर्तव्य। न हम लेना जानते है, न देना। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों तथा कर्तव्यों—दोनों का हमें ज्ञान प्राप्त करना है। इनके ज्ञान से ही हम सच्चे नागरिक होकर अपनी, अपने गांव या ज़िले की, अपनी मातृभूमि की और समस्त विश्व की उन्नति में सहायक हो सकते हैं।

इस विषय पर भी हिन्दी में दो चार से अधिक पुस्तकें मेरे देखने में नहीं आयीं। जो देखी हैं, वे विषय को रोचक और सर्वसाधारण के लिए सुगम बनाने की अपेक्षा राजनीति के विद्यार्थियों के लिए ही लिखी गई हैं। दूसरी कमी उनमें यह है कि लेखकों ने अंग्रेज़ी पुस्तकों के आधार पर ही अपने विषय का प्रतिपादन किया है, मानो भारतीय शास्त्रकार या हमारे पूर्वज इस संबंध में कुछ जानते ही न हों। इन पंक्तियों के लेखक की सम्मति में केवल अंग्रेज़ी ग्रन्थों के आधार पर लिखी गई पुस्तकें जहां हमारी गौरव-हीनता की सूचक हैं, वहां हमारे लिए बहुत उपादेय भी नहीं हो सकतीं। इन बातों का खयाल रखते हुए यह पुस्तक लिखी गई है। विषय को अधिक रोचक, सरल और मनोरंजक बनाने के लिए सारी पुस्तक को पत्रमाला का रूप दे दिया गया है। पत्रों में ऐसे

गंभीर विषय को रखने में मैं कहांतक सफल हुआ हूँ, यह नहीं कह सकता। इस दिशा में यह मेरा ही नहीं, शायद हिन्दी लेखकों की दृष्टि से भी यह पहला ही प्रयास है।

पुस्तक का अन्तिम पत्र, जिसमें क़ानून-संबंधी चर्चा हैं, मैं लिख न पाता, यदि मेरे सुहृद् भाई हरिश्चन्द्र गोयल, वकील मुझे उचित परामर्श न देते। इस पुस्तक के लिखने में मुझे बीसियों पुस्तकों से सहायता मिली है, जिनमें से कुछ मुख्य ग्रन्थों के नाम निम्नलिखित हैं—: दी लिबर्टी इन दी मॉडर्न स्टेट (एच. जे. लास्की), दी लिबर्टी (जॉन स्टुअर्ट मिल), एन इंट्रोडक्शन टू सिविक्स एण्ड पॉलिटिक्स (पुणतांबेकर), गीता-रहस्य (बा० गं० तिलक), समाज-विज्ञान (चन्द्रराज भण्डारी), नागरिक शास्त्र (भगवानदास केला), हिंट्स आफ़ सेल्फ़ कल्चर (लाला हरदयाल) राज्यविज्ञान (गोपाल दामोदर तामसकर), दी ए० बी० सी० आफ़ सिविक्स (प्रो० वेणीप्रसाद), दी इंडियन पिनल कोड और दी क्रिमिनल प्रोसीजर कोड। इनके अतिरिक्त कुछ पुस्तकों का उल्लेख पत्रों में भी कर दिया है। बाबू श्री श्रीप्रकाश एम-एल. ए. ने अपना अमूल्य समय निकालकर इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने की कृपा की है। इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

पुस्तक के छठे पत्र में चैकोस्लोवाकिया का ज़िक्र है, लेकिन वह फ़ार्म छपने के बाद वह भी हिटलर के सर्वग्रासी मुख में समा गया है। अब उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रहीं।

अन्त में विचारशील पाठकों से एक निवेदन है। यदि इस पुस्तक के संबंध में वे कुछ नये परामर्श देसकें, तो मैं उनका आभारी हूँगा और पुतक के द्वितीय संस्करण में उनका उपयोग करने का प्रयत्न करूँगा।

वैशाख संक्रान्ति १९९६] कृष्णचन्द्र

विषय-सूची

हमारे

अधिकार और कर्तव्य

: १ :

व्यक्ति और समाज

१-५-३८

प्रिय अशोक,

कल तुम्हारा तार पाकर मन बहुत प्रसन्न हुआ कि तुम परीक्षा में पास होगये हो और वह भी अपनी श्रेणी में सबसे पहले नम्बर पर। आज तुम्हारा पत्र मिला। उससे यह जानकर और भी खुशी हुई कि तुमने अपने भावी जीवन का उद्देश्य लोक-सेवा निश्चित किया है। मैं तुम्हारे इस विचार से पूर्ण रूप से सहमत हूँ कि आज के ज़माने में प्रत्येक विद्यार्थी का अपना जीवनोद्देश्य लोकसेवा ही बनाना चाहिए।

यहाँ सभी परिवार के लोग तुम्हें परीक्षा में पास होने पर बधाई दे रहे हैं। सबकी इच्छा है कि तुम दो चार दिन के लिए यहाँ ज़रूर आ जाओ। मुझे आशा है कि तुम्हें भी इसमें कोई ऐतराज़ न होगा। परीक्षा के बाद कुछ दिन आराम कर लेना ज़रूरी भी होता है। आजकल की परीक्षा-पद्धति का अविष्कार किसने किया है और उसका उद्देश्य क्या रहा होगा, यह तो हम नहीं जानते, लेकिन इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि उसका ख़याल परीक्षा को आज-कल का सा भयावना और स्वास्थ्य को चौपट करनेवाला तो न रहा होगा। यह खुशी की बात है कि आजकल भारतीय शिक्षा-विशारदों का ध्यान भी इस ओर गया है।

तुमने अपने पत्र में एक बड़ी भारी ज़िम्मेदारी मुझ पर डालनी

चाही है। तुम प्रत्यक्ष सेवा कार्य में प्रवेश करने से पहले तुम्हारे कार्य की दिशा क्या हो और सबसे पहले कौन-सा कार्य लो, इस विषय में मेरी सलाह चाहते हो। तुमने तो राजनीति, इतिहास, अर्थ-शास्त्र, धर्मशास्त्र आदि का अध्ययन भलीभाँति कर लिया है, हिन्दुस्तान की हालत से भी परिचित हो, और यह भी तुमसे छिपा नहीं है कि आज हमें किस चीज़ की ज़रूरत है। ऐसी हालत में समझ में नहीं आता कि मैं तुम्हें क्या तो कार्य-दिशा बताऊँ और क्या तुम्हें भावी कार्य के बारे में कोई सलाह दूँ? लेकिन लोकसेवा के एक ख़ास अंग—हमारे नागरिक अधिकार और कर्तव्य के बारे में मेरे कुछ अपने विचार हैं। संभव है, उनसे तुम्हें कुछ सहायता मिले और अपना कार्यक्रम निश्चित करने में कुछ सहूलियत हो, इस कारण इस बारे में अपने विचार इन पत्रों में देने का मेरा ख़याल है।

अपने विषय की चर्चा करने से पहले मनुष्य या मनुष्यसमाज क्या है, कर्तव्य क्या है और अधिकार क्या है, आदि प्रारंभिक बातों पर थोड़ा-सा विचार कर लेना चाहिये। इससे हमें आगे की बातें समझने में बड़ी सहूलियत रहेगी।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सिर्फ़ यह नहीं कि वह समाज में रहना चाहता है, लेकिन वह समाज की सहायता के बिना छोटी-से-छोटी हरकत भी नहीं कर सकता। भोजन, पानी, कपड़े आदि सभी ज़रूरतों के लिए उसे दूसरे व्यक्तियों का सहयोग लाज़िमी होता है। भोजन की तैयारी में किसान, किसान के हथियार आदि बनाने-वाले बढ़ई, लुहार, कुम्हार, पानी के लिए नहरें खोदनेवाले मज़दूर, एंजीनियर, गेहूं साफ़ करनेवाले, आटा पीसनेवाले और रोटी बनाने वाले आदि कितने ही व्यक्तियों की ज़रूरत होती है। एक स्थान से

दूसरे स्थान तक जाने के लिए गाड़ी या तांगेवाले, गाड़ी बनानेवाले लुहार और बढ़ई, सड़क कूटनेवाले, घोड़े की रास वग़ैरा बनानेवाले मोची आदि और रेल चलानेवाले, स्टेशन के विभिन्न कर्मचारी, रेल व इंजिन बनानेवाले आदि सैकड़ों व्यक्तियों की अपेक्षा होती है। मनुष्य कितना भी प्रयत्न क्यों न करे, समाज के सहयोग के बिना वह अपना साधारण गुज़र भर भी नहीं कर सकता।

मनुष्य केवल अपने समकालीन या पड़ोसी समाज की सहायता पर ही अवलम्बित नहीं रहता। वह हज़ारों—और हिन्दुओं के अनुसार लाखों—बरसों पूर्व के समाज का भी ऋणी है। मनुष्य जाति ने—हमारे पूर्वजों ने धीरे-धीरे सभ्यता का जो विकास किया है, उससे हम सब लाभ उठाते हैं। आज हम जितने वैज्ञानिक आविष्कार देख रहे हैं, जो हमारे जीवन के लिए ज़रूरी से मालूम होते हैं, वे भी हज़ारों बरसों तक मनुष्य के क्रमिक विकास के फल हैं। मानवसमाज सृष्टि के प्रारंभ से ही इतना सुशिक्षित और साधन-सम्पन्न नहीं था। उसने बहुत धैर्य के साथ अपनी शिक्षा बढ़ाई है, एक-एक करके अपने साधन बढ़ाये हैं और हरेक साधन का धीरे-धीरे विकास व परिष्कार किया है। शान्ति व धैर्य के साथ किये गये इन हज़ारों और लाखों बरसों के परीक्षणों का ही यह फल है कि मनुष्य आज इतनी सभ्यता का दावा कर सकने लगा है। रहन-सहन, खेती तथा अन्न वैज्ञानिक आविष्कार ही नहीं, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, चिकित्सा, आमद-रफ्त के साधन, उद्योग-धन्धे तथा हमारी दार्शनिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक विचारधारायें तक सैकड़ों हज़ारों बरस पहले के मनुष्य के गंभीर और निरंतर प्रयत्नों की ऋणी हैं। स्वयं समाज का भी धीरे-धीरे विकास हुआ है।

मनुष्य के जीवन के लिए समाज अनिवार्य है। इसलिए उसकी रक्षा भी अनिवार्य है। यदि समाज विश्रृंखल या शिथिल हो जाता है, बिखर जाता है या नष्ट हो जाता है, तो इसका लाज़िमी असर मनुष्य पर भी पड़ेगा। संगठित और उन्नत समाज ही मनुष्य की उन्नति का साधन है। यदि वह बिखर गया, शिथिल हो गया या नष्ट हो गया, तो वह मनुष्य का भी हितसाधन न कर सकेगा और इसका नतीजा यह होगा कि मनुष्य भी नष्ट हो जायगा। धर्म के बारे में कहा गया है कि "धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः" अर्थात् मरा हुआ धर्म मनुष्य को भी मार देता है और रक्षित धर्म मनुष्य की रक्षा करता है। समाज मनुष्य को धारण करता है, इसलिए उसे भी धर्म कहा जा सकता है। यदि समाज की रक्षा न की गई, उसे मार दिया गया या नष्ट कर दिया गया तो यह मरकर मनुष्य को भी मार देगा। इस बात पर इतना ज़ोर देने का एक कारण है। मैं यह समझता हूँ और मेरा ख़याल है कि तुम भी इससे सहमत होगे कि हम भारतीयों को यह सत्य समझ लेने की सबसे अधिक आवश्यकता है कि समाज व्यक्ति से छोटा नहीं है। हम भारतीय व्यक्ति के आगे समाज की उपेक्षा कर जाते हैं। अपने निजी लाभ की चिन्ता से हम दूसरों की—अपने कुल, मुहल्ले, गाँव, शहर या देश-भर की हानि करने में ज़रा भी संकोच नहीं करते। तुम्हें गाँव या शहर में रहते हुए ऐसे बहुत से मौक़े मिलेंगे, जब तुम इस सचाई को अनुभव करोगे। तुम देखोगे कि किस तरह प्रत्येक व्यक्ति अपने घर का सारा कूड़ा-कचरा गली में बिना किसी झिझक के फेंक देता है या अपने घर के बालकों को दूसरों के घर के सामने टट्टी कराने को बिठा देता है, या चेचक आदि छूत के रोग को फैलाने से रोकने का कोई

प्रयत्न नहीं करता, या ऐसी कई बातें करता है जिसमें वह अपनी सफ़ाई, सुविधा या लाभ का ख़याल कर लेता है, लेकिन उससे दूसरे का—हमारे पड़ोसी का—हमारे शहर का—हमारे समाज का—हमारे देश का क्या अहित होता है, इस ओर ज़रा भी ध्यान देने की कोशिश नहीं करता।

सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में भी इस तरह के सैकड़ों उदाहरण देखने को तुम्हें मिलेंगे। इसका परिणाम भी हमारे सामने है। इससे, न केवल समाज की हानि होती है, बल्कि व्यक्तियों की अपनी हानि भी कम नहीं होती।

समाज के भी अनेक रूप हैं। परिवार, सभा कम्पनी, संस्था, म्यूनिसिपल कमेटी, सरकार आदि अनेक रूपों में हम मनुष्य का संगठन पाते हैं। कोई ऐसी संस्था, जिसमें एक से अधिक व्यक्ति आपस में मिलते हैं, समाज का एक रूप है। जब स्त्री और पुरुष विवाह सूत्र में बँधते हैं या एक मुहल्ले, ग्राम, शहर या देश के रहने वाले मिलकर कोई सरकार क़ायम करते हैं (या कोई राजा लोगों को मिलने के लिए बाधित करता है), या कुछ थोड़े अथवा बहुत आदमी किसी उद्देश्य से कोई संगठन—चाहे वह धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक या आर्थिक हो—बनाते हैं, तब वे सब समाज के ही विभिन्न रूप बनाते हैं। ये जुदे-जुदे समाज अपने-अपने क्षेत्र में मनुष्य की भलाई करते हैं। जहाँ-जहाँ इन समाजों की उपेक्षा की जायगी, वहाँ-वहाँ इन समाजों के अंग नुकसान उठायेंगे। इसके लिए तुम्हें उदाहरण देने की ज़रूरत नहीं। एक ग्राम-पंचायत जबतक संगठित, बलशाली और प्रगतिशील है, उस गाँव के रहनेवालों की भी हालत अच्छी होगी। ग्राम-पंचायत के शिथिल होते ही गाँववालों की उन्नति भी

रुक जाती है। तुम तो इतिहास के विद्यार्थी हो। भारत में अंग्रेज़ी राज के आने के साथ ही ग्राम-पंचायतों की पुरानी और उपयोगी संस्था नष्ट हो गई। इसका जो भीषण और घातक असर भारतीय समाज पर पड़ा, उसे तुम भलीभांति जानते हो। जब किसी देश की सरकार कमज़ोर हो जाती है तब उस देश की हालत भी गिर जाती है। एक व्यापारिक कम्पनी की हालत बिगड़ने का असर उसके शेयर-होल्डरों पर ज़रूरी तौर पर पड़ता है। मतलब यह कि मनुष्य की उन्नति के लिए समाज की रक्षा ज़रूरी है। प्रत्येक भारतीय को यह सत्य समझने की ज़रूरत है। लोगों को यह समझाना इतना कठिन नहीं है, जितना उनके आचरण में इसको उतारना है।

लेकिन सिर्फ़ समाज ही तो हमारा उद्देश्य नहीं है। समाज मनुष्य की उन्नति का साधन है, उद्देश्य नहीं। जो लोग समाज की उन्नति की चिन्ता में इतना अधिक उलझ जाते हैं कि मनुष्य की निजी उन्नति का ख़याल तक छोड़ देते हैं, वे भी भूलते हैं। समाज या संघ इसलिए नहीं कि वह अपने अवयवरूप सदस्यों के व्यक्तित्व का नाश करदे। वह तो उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायता देने के लिए है। लेकिन हम दुनिया के इतिहास में ऐसे हज़ारों उदाहरण देखते हैं, जब समाज ने मनुष्य की उन्नति की बनिस्बत उसका पतन ही अधिक किया है। हर्बर्ट स्पेंसर तो समाज के अत्याचार से इतने अधिक दुःखी और क्षुब्ध हुए कि उन्होंने एक जगह कहा है कि राज्य रक्षक की अपेक्षा भक्षक ही अधिक है। साम्राज्यवादी सरकारों की सेनाएँ ही नहीं, धर्म ने भी संगठित समाज के रूप में मानवजाति पर जो भीषण अमानुषी और रोमांचकारी अत्याचार किये हैं, उनकी कहानी बड़ी ही करुण है। इसी समाज ने करोड़ों मनुष्यों के राजनैतिक, सामा-

जिक व आर्थिक अधिकारों को छीनकर उनकी दशा बहुत शोचनीय कर दी है। पूँजीवाद ने किसानों और मज़दूरों की, धार्मिक समाज ने स्त्रियों और अछूतों की और विदेशी शासन ने पराधीनों की जो स्थिति की है, वह तुम से छिपी नहीं है। ऐसा समाज जो व्यक्ति की उन्नति में सहायक नहीं होता, व्यक्ति के लिए आदर का पात्र किस तरह हो सकता है? जिस समाज में मनुष्य को लिखने, बोलने, अपने धार्मिक विचार मानने, चलने फिरने, स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने की स्वतंत्रता नहीं है, मनुष्य उस समाज की चिन्ता क्यों करेगा?

इसलिए समाज ऐसा होना चाहिए, जिसमें उसके अवयवभूत मनुष्यों के अधिकारों पर हमला न होता हो। समाज साधन ही रहे, उद्देश्य न बन जाय। उस समाज में रहकर मनुष्य सुखी हों, समृद्ध हों और उन्नतिशील हों। समाज मनुष्य की चहुंमुखी उन्नति का कारण और सहायक बने, बाधक न बने। साधन और उद्देश्य का भेद एक उदाहरण से साफ़ कर दूँ। भारत के पुराने शास्त्रकारों के मत से मानवजीवन का उद्देश्य है मोक्ष या सुख को पाना। आत्मा सुख की प्राप्ति के लिए कोशिश करता है। इस उद्देश्य के लिए परमात्मा ने मनुष्य को शरीर साधन रूप में दिया है। पर जब मनुष्य आध्यात्मिक सुखप्राप्ति के उद्देश्य को भूलकर शरीर की सेवा में लग जाता है, तब वह अपने अन्तिम उद्देश्य तक कभी नहीं पहुँच सकता। यह ठीक है कि शरीर साधन की भी रक्षा ज़रूरी है, लेकिन शरीर को ही उद्देश्य मान लेना भूल है। स्वस्थ और पुष्ट शरीर की इसलिए ज़रूरत है कि उससे अपने उद्देश्य तक आसानी से पहुँचने में सहायता मिल सकती है।

लेकिन समाज बनाने के लिए भी व्यक्ति को कुछ-न-कुछ त्याग

करना पड़ेगा, किन्हीं नियमों का पालन करना पड़ेगा, समाज की रक्षा के लिए कुछ आवश्यक बंधन अपने ऊपर लगाने पड़ेंगे। यदि मनुष्य समाज की रक्षा की ओर से लापरवाह हो जाय, उसकी चिन्ता न करे तो समाज नष्ट हो जायगा और नष्ट समाज व्यक्ति को भी नष्ट होने से बचा न सकेगा। समाज की रक्षा भी करनी है और समाज को इतना भी ज़बरदस्त नहीं होने देना कि वह व्यक्ति पर हावी हो जाय और उसकी उन्नति को बिलकुल रोक दे। समाज मनुष्य की उन्नति में बाधक न हो, और मनुष्य समाज की उन्नति में बाधक न हो। दोनों एक दूसरे की उन्नति में मददगार हों।

ऐसी स्थिति पैदा करने के लिए मनुष्य को समाज के प्रति जो कुछ करना पड़ता है, वह उसका कर्तव्य है। इसके बदले में समाज को भी मनुष्य के जिन हितों की चिन्ता करनी चाहिए, वे मनुष्य के अधिकार हैं। समाज और विशेषकर ग्राम, नगर या देश के प्रति इन्हीं कर्तव्यों और अधिकारों के शास्त्र का नाम आजकल के पश्चिमी विचारकों ने 'नागरिक शास्त्र' या Civics रखा हुआ है। मनुष्य एक हाथ से समाज को अपने कर्तव्यपालन के रूप में कुछ देता है और दूसरे हाथ से अपनी अधिकाररक्षा के नाम से कुछ ले लेता है। यह 'ले' और 'दे' का, ममत्व और समत्व का या स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ का समन्वय ही हमें समझने की ज़रूरत है। मि० ह्वाइट के कथनानुसार अहंकार पर परोपकार की विजय ही नागरिक शास्त्र का सार है। हम भारतीयों की हालत तो यह है कि हम न देना जानते हैं और न लेना। न तो हमें समाज की रक्षा की चिन्ता है और न अपने अधिकारों की रक्षा की।

मैं चाहता हूँ कि आगे के कुछ पत्रों में इसी विषय पर कुछ प्रकाश

डालूँ। मैं नहीं जानता कि इस क्रम को कहाँतक निभा सकूँगा, लेकिन मैं कोशिश ज़रूर करूँगा कि कुछ पत्रों में इस विषय के जुदे-जुदे अंगों पर रोशनी डाल सकूँ। मनुष्य की उन्नति उद्देश्य है और समाज उसका साधन है, इसलिए मैं पहले मनुष्य के अधिकारों की चर्चा करूँगा और बाद में उसके कर्तव्यों की। कर्तव्यपालन की भावना ज़रूरी होते हुए भी अधिकारों की इच्छा अधिक स्वाभाविक और वांछनीय होती है, इसलिए भी अधिकारों की चर्चा पहले होनी चाहिये।

पर एक बात लिख दूँ। मेरा दूसरा पत्र तबतक न आयगा, जब तक कि तुम एक बार आ न जाओगे। परीक्षा के बाद आराम आवश्यक है। फिर यहाँ भी सभी तुमसे मिलना चाहते हैं। आने की तारीख़ व गाड़ी से सूचित करना।

तुम्हारा स्नेहाधीन

कृष्णचन्द्र

: २ :

मेरे अधिकार

१५-५-३८

तुम्हारे आने की बाट बहुत देखी, लेकिन तुम न आ सके। अच्छा, फिर कभी सही।

मैंने पिछले पत्र में तुमसे समाज के प्रति हमारे कर्तव्य और हमारे अधिकारों की थोड़ी-सी चर्चा की थी। पर यह समाज है क्या, यह कैसे बना और मनुष्य व समाज का आपस में क्या सम्बन्ध है, इसपर कुछ ज़्यादा विचार करने की ज़रूरत है।

ऐतिहासिकों का कहना है कि दुनिया के शुरू में मनुष्य बिलकुल स्वतंत्र था। उसके लिए कोई बन्धन न था। वह जंगल में रहता और शिकार करके अपना पेट भरता था। मनुष्य व मनुष्य के बीच के आपसी सम्बन्ध का तथा विवाह, खेती और पशुपालन आदि तक का उसे ज्ञान न था। धीरे-धीरे जैसे-जैसे उसका अनुभव बढ़ता गया, और उसे जीवन में कठिनाइयाँ महसूस होती गईं, वैसे-वैसे एक दूसरे मनुष्य की सहायता की आवश्यकता—जिसे हम सहयोग या समाज की आवश्यकता कह सकते हैं—भी महसूस होती गई। समाज रचना के क्रमविकास का यह इतिहास बहुत दिलचस्प है। समाजरचना का वर्तमान रूप बहुत-सी सीढ़ियों को पार करने के बाद आया है। एक प्रसिद्ध अंग्रेज़ विद्वान के कथनानुसार मनुष्य तीन अवस्थाओं—जंगली समाज, कौटुम्बिक समाज और राजकीय समाज की अवस्थाओं को पार कर वर्तमान स्थिति तक पहुँचा है।

मनुष्य ज्यों-ज्यों विस्तृत और संगठित समाज की आवश्यकता ज़्यादा अनुभव करता गया, उसके संगठन का दायरा भी उतना ही बड़ा होता गया। समाज-रचना का मुख्य उद्देश्य सुख की प्राप्ति था। अकेले रहकर सुख पाना कठिन था, इस कारण उसने दूसरे व्यक्ति को साथ लिया। परिवार से उसे सुख मिला तो सही, लेकिन वह पूरी तौर पर बेफ़िक्र न होसका। इसलिए उसे अपना दायरा और बड़ा करना पड़ा। बलवान आक्रमणकारियों के हमले से बचने के लिए उसने दूसरे मनुष्य के साथ मिलकर इकट्ठा रहना शुरू किया। इसमें भी उसका मुख्य उद्देश्य अपनी स्वाधीनता की रक्षा था। लेकिन इस से भी उसका उद्देश्य पूरा न हुआ। एक बलवान दल दूसरे दल पर हमला न कर सके, इसलिए उसे अपने संगठन का दायरा और भी विस्तृत करना पड़ा। इसी तरह बढ़ते-बढ़ते छोटे बड़े राज्य पैदा हुए। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा हैं—"पहले राजाओं के न होने के कारण समाज में बड़ी अव्यवस्था रहती थी। चारों ओर मत्स्य-न्याय का प्रचार देखने में आता था। बलवान लोग निर्बलों को खा जाते थे। इस गड़बड़ी को मिटाने के लिए सब लोगों ने मिलकर नियम बनाया कि जो कोई दूसरे से कठोर भाषण या मारपीट करेगा, अथवा दूसरे के धन और स्त्रियों पर आक्रमण करेगा, उसका हम बहिष्कार कर देंगे। यह नियम चारों वर्णों पर एकसा लागू होगा।" इस नियम का भी पूरा प्रभाव नहीं पड़ा। तब सब प्रजा दुःखी होकर ब्रह्मा के पास गई और उनसे कहने लगी कि हमें एक ऐसा अधिपति दीजिए, जो सब लोगों को इस नियम का पालन करने के लिए विवश करे। यह सुनकर ब्रह्मा ने मनु को यह काम करने की आज्ञा दी। मनु ने यह कहकर इससे इन्कार कर दिया कि पापाचरण करने

वालों पर शासन करना भी पाप है। तब प्रजा ने मनु से कहा कि—"राष्ट्र में जो पाप होगा, वह कर्ता को लगेगा, तू भय मत कर। तुझे हम पशुओं का पचासवाँ और अनाज का दसवाँ हिस्सा इन्तज़ाम के लिए देंगे। अस्त्र, शस्त्र और वाहन से संयुक्त हमारे सैनिक हमेशा तेरे साथ रहेंगे। इसके सिवाय हम लोग अपने धर्माचरण का भी चौथा भाग तुम्हें देंगे। तू सुख और आनन्द के साथ राज्य कर।[१]" मनु ने इस शर्त को स्वीकार करके राज्यभार ग्रहण किया।

इसके बाद राज्यकल्पना में भी विकास होने लगा और उसके अनेक रूप बन गये।

पर कैसा आश्चर्य है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य की स्वाधीनता की रक्षा के लिए ये नवीन साधन उत्पन्न होते गये, त्यों-त्यों मनुष्य के पैरों में ज्यादा-से-ज्यादा गुलामी की जंजीरें पड़ने लगीं। जिस रोग के इलाज के लिए धर्म, सामाजिक व्यवस्था और राज्य आदि साधन बनाये गये, उस रोग को हटाने के लिए उन सब ने एक नयी बीमारी पैदा करदी। "समाजरचना के गर्भ में से सामाजिक गुलामी, धर्म के गर्भ में से धार्मिक गुलामी और राज्यसत्ता के गर्भ में से राजनैतिक गुलामी का जन्म होगया। ज्यों-ज्यों उसके सामाजिक संगटन का दायरा फैलता गया, उसकी गुलामी भी बढ़ती गई। परिवार के साथ पारिवारिक बन्धन भी आगये। स्त्री को तो विशेषकर पति के अधीन होना पड़ा। पुरुष पर भी कम बन्धन न थे, उसे अब अपनी ही नहीं, अपने परिवार की चिन्ता भी करनी पड़ी। अब उसकी गति में पहले की सी स्वच्छन्दता न रही कि जहाँ चाहा, चल दिया। परिवार की पराधीनता के बाद दल और गण की पराधीनता आई।

१ महाभारत—शान्तिपर्व, अध्याय ६६।

परिवारों को भी दलों व गणों की इच्छा के अनुसार चलना पड़ा। परिवार की इच्छा पर दल या गण की इच्छा हावी होगई। उसके बाद राज्य की सत्ता आई और वह दल या गण पर भी हावी हो गई। यह याद रखना चाहिए कि राज्यों के बन्धन सब जगह मनुष्य ने स्वयं ही अपने ऊपर नहीं लादे। बहुत-सी जगहों पर बलवान मनुष्य या जाति ने दूसरों पर ज़बरदस्ती भी अधिकार स्थापित कर लिया। बल-प्रयोग का यह सिलसिला आजतक दुनिया में उसी तेज़ रफ़्तार से जारी है। कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता है कि दुनिया की शुरूआत में मनुष्य जितना खूंख़ार था, आज हज़ारों और लाखों साल गुजरने के बाद भी, सभ्यता की दिशा में इतनी मंज़िलें पार करने के बावजूद भी वह उतना ही खूंख़ार है। साधनों की विविधता और प्रबलता होजाने से उसकी विनाशक प्रकृति और भी अधिक भयंकर रूप में प्रकट होने लगी है। मानव जाति का समस्त इतिहास ही आपसी मारकाट, लड़ाई, खूनखच्चर और क़तलेआम से भरा पड़ा है। छोटे-बड़े राज्य या बड़े-बड़े साम्राज्य इसी हिंसा के परिणाम दीखते हैं। यह संसार का इतिहास भी तो एक प्रकार से मारकाट, खून-खच्चर, लूटमार आदि की एक सूची ही तो है। पर यह मैं थोड़ा अपने विषय से भटक गया। मैं कहना तो यह चाहता था कि ज्यों-ज्यों मनुष्य का सामाजिक संगठन इच्छा से या विवशता से विस्तृत और दृढ़ होता गया, उसकी आज़ादी भी उसी क्रम से कम होती गई। व्यक्ति, परिवार, दल या गण और राज्य सबकी आज़ादी उत्तरोत्तर अपने से बड़े और ताक़तवर संगठनों में विलीन हो जाती है।

राज्य और साम्राज्य मनुष्य की स्वतन्त्रता का अपहरण कैसे करते हैं, यह देखने के लिए दूर जाने की ज़रूरत नहीं। ब्रिटिश भारत

और भारतीय रियासतों पर एक नज़र डाल लेना काफ़ी होगा। रियासती प्रजा को अपने संगठन का कोई अधिकार नहीं। उस-पर राजा कितने ही मनमाने कर क्यों न लगा दे, प्रजा चूँ नहीं कर सकती। लेकिन रियासती प्रजा को दबानेवाले राजा खुद भी ब्रिटिश सरकार के आगे इतने ही पराधीन हैं। ब्रिटिश भारत की प्रजा का भी अच्छा हाल नहीं है। सरकार को प्रत्येक प्रकार का छोटा-बड़ा टैक्स लगाने का अधिकार है। जनता का कोई भी ज़ोरदार आन्दोलन लाठियों, मशीनगनों, हवाई जहाज़ों द्वारा बम-वर्षा से दबाया जा सकता है। भारत की आर्थिक नीति पर अंग्रेज़ सरकार का क़ब्ज़ा है। सभी गुलाम राष्ट्रों की प्रजा की हालत है। बहुत से स्वतन्त्र फ़ासिस्ट राज्यों में भी प्रजा के अधिकारों को इसी तरह कुचला जाता है। पुराने जमाने की बातें न भी देखें, तो भी आज की दुनिया में भी इसके उदाहरणों की कमी नहीं है। एकतंत्र या डिक्टेटर शासनवाले देशों में आज भी प्रजा की गुलामी की ऐसी सैकड़ों मिसालें मिलती हैं। रूस, इटली, जर्मनी के हाल तुम रोज़ अख़बारों में पढ़ते ही हो। वहाँ की सारी जनता स्टेलिन, मुंसोलिनी और हिटलर की इच्छा के ख़िलाफ़ चूँ भी नहीं कर सकती। कहने का मतलब यह कि समाज के संगठन का नतीजा अन्त में जाकर मनुष्य की गुलामी में परिवर्तित हो जाता है।

सिर्फ़ राजकीय संगठन ही नहीं, सामाजिक और धार्मिक संगठनों ने भी मनुष्य की आज़ादी को कुचलने में कोई कसर नहीं उठा रखी। अपने चारों ओर एक नज़र देखो तो पता चलता है कि समाज ने दलितों के साथ कैसा भयंकर व्यवहार किया है। पशुओं की अपेक्षा भी उन्हें गन्दी हालत में रखा जाता है। उन्हें छूना ही नहीं, उनकी

छाया पड़ जाना भी पाप समझा जाता है और इसके लिए कपड़े धोकर नहाना पड़ता है। बहुत-सी आम सड़कों पर चलने तक की उन्हें आज्ञा नहीं है। देवमन्दिरों में दर्शन करने, सार्वजनिक कुओं पर नहाने, पानी भरने और स्कूलों में पढ़ने की भी उन्हें मनाही है। यही नहीं बल्कि अपने घर में अच्छा खाना और अच्छा कपड़ा तक उन्हें नहीं खाने पहनने दिया जाता। नन्हा सा हरिजन बालक प्यास के मारे तड़प रहा हो, कीड़े-मकोड़ोंसे खाया जारहा हो, पानी में डूब रहा हो, लेकिन उच्च सभ्यताभिमानी ब्राह्मण उसे नहीं बचावेगा; क्योंकि उसके छूजाने से वह अपवित्र होजायगा।हिन्दुस्तान को छोड़दें रोम के पैट्रियाकों ने प्लीबियनों के साथ जो दुर्व्यवहार किया, वह भी इतिहाससे स्पष्ट है। हमारे यहाँ स्त्रियों के साथ भी तो धर्म और समाज ने कम अन्याय नहीं किया। सब दुर्गुणों की खान बताकर उन्हें सामाजिक जीवन में बिलकुल पतित कर दिया गया। केवल हिन्दू-धर्म में ही नहीं, दूसरे भी कई धर्मों ने स्त्री के साथ जी खोलकर अन्याय किया। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्" कहकर उसे ज्ञान और शिक्षा से वंचित कर दिया। धर्म की दुहाई देकर विधर्मियों पर जो रोमांचकारी अत्याचार किये गये, उनकी अपनी ही एक दुःखद कहानी है। कहने का मतलब यह कि जिस रूप में मनुष्य ने संगठित होकर अपनी उन्नति चाही, उसी रूप ने मनुष्य के अधिकार छीनने की पूरी कोशिश की, हालांकि संगठन का उद्देश्य बिलकुल इससे उलटा था। मनुष्य ने अपने नैतिक विकास और सुख प्राप्त करने के लिए कोशिश की, लेकिन उसके गले ग़ुलामी का इतना जबर्दस्त जुआ पड़ गया कि वह संगठन के अभाव में भी जो उन्नति कर सकता था उससे भी वंचित हो गया।

जब मनुष्य ने अपनी यह पराधीनता अनुभव की, तब उसमें

प्रतिक्रिया उत्पन्न होने लगी। वह ऐसे समाज का विरोध करने के लिए कमर कसकर खड़ा हो गया। उसने डंके की चोट यह घोषणा करदी कि वह गुलाम बनकर नहीं रहेगा। यह ठीक है कि यह अनुभव करने में मनुष्य को बहुत वक्त लग गया। पर जब एक बार वह समझ गया, तो समाज, राज्य या धर्म सब बंधनों को, जिनसे वह जकड़ा हुआ था, एकबारगी तोड़ फेंकने के लिए खड़ा होगया। कई क्रान्तिकारियों ने तो जोश में आकर यहाँतक कहना शुरू कर दिया कि मनुष्य जाति के फ़ायदे के लिए इनका एकदम नाश हो जाना ही ज़रूरी है। अराजकतावाद, अनीश्वरवाद और साम्यवाद जैसे क्रान्तिकारी वादों के पैदा होने का भी यही कारण है। मनुष्य को अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सदियों युद्ध करना पड़ा। वह बहुत बार नाकामयाब हुआ, लेकिन वह निराश नहीं हुआ। दुगने वेग से फिर जुट गया। उसे बहुत जगहों पर सफलता मिली और बहुत जगहों पर असफलता का भी सामना करना पड़ा। दुनिया के प्रायः सभी कोनों में यह युद्ध अबतक भी जारी है और जबतक मनुष्य अपने पूर्ण अधिकारों को प्राप्त नहीं कर लेगा, तबतक जारी ही रहेगा।

परन्तु इन अधिकारों का ज़िक्र करने से पहले एक बात फिर कह दूँ। मनुष्य ने अपनी आज़ादी क़ायम रखने के लिए ही—बलवान आक्रमणकारी मनुष्य के अधिकारों पर कुठाराघात न कर सके, इस उद्देश्य से—समाज या राज्य की कल्पना की थी। अधिकारों की कल्पना संगठित समाज के बिना हो ही नहीं सकती। समाज में रहकर ही अधिकार प्राप्त किये जा सकते हैं और समाज के लिए कुछ बन्धनों का होना ज़रूरी है। मतलब यह कि अधिकारों की रक्षा के लिए बन्धन लाज़मी हैं। जब कोई संगठन न हो, तब

जान-माल का ठिकाना भी नहीं रहता। और इस हालत में कौन स्वतंत्रतापूर्वक कार्य कर सकता है ? उस समय यदि किसी बात की आज़ादी है तो मारने की और मरने की। ऐसी हालत में किसी उद्देश्य के अनुसार कार्य करना संभव नहीं होता। जब लोगों की मनमानी चलने लगती है, तब क्या लोगों की स्वतन्त्रता किसी भी रूप में बची रह सकती है ? भीष्म पितामह शान्तिपर्व में कहते हैं : "राजन्यसति लोकेऽस्मिन्कुतो भार्या कुतो धनम् ?" सरकार ही न हो तो हमारे परिवार और धन-की रक्षा की गारन्टी नहीं हो सकती।

राज्य या समाज का कोई संगठन मनुष्य पर कुछ बंधन लगाता है। लेकिन जब यही बन्धन इतने अधिक अनिश्चित और असीमित हो जावें कि मनुष्य की आज़ादी कुचली जाने लगे, तब इन बन्धनों पर और इनके केन्द्रीभूत राज्य पर भी कुछ नियन्त्रण ज़रूरी हो जाता है। इस नियंत्रण का उद्देश्य है मनुष्य की उस आज़ादी की रक्षा करना, जिससे वह अपने नैतिक विकास की ओर से निश्चिन्त होकर प्रगति कर सके। मनुष्य पर राज्य का बन्धन मनुष्य की उच्छृंखलता रोकने के लिए और राज्य पर मनुष्य का नियंत्रण या बन्धन राज्य की उच्छृंखलता रोकने के लिए लगाया जाता है। पहले प्रकार के बन्धन मनुष्य के कर्तव्य हैं और दूसरे प्रकार के बन्धन मनुष्य के अधिकार हैं। इन्हीं अधिकारों के लिए वह राज्य से पिछली सदियों में लगातार युद्ध करता रहा है। ये अधिकार थोड़े में इस प्रकार हैं:—

१. **शारीरिक स्वतंत्रता**—मनुष्य को ज़िन्दा रहने का पूरा अधिकार है। वह राज्य से यह आशा करता है कि वह उसके जीवन की रक्षा करेगा। उसे न कोई व्यक्ति नष्ट कर सके और न राज्य ही उसपर बिला वजह हावी होसके या कष्ट दे सके।

२. मानसिक स्वतंत्रता—मनुष्य को अपने स्वतंत्र विचार रखने, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और अपने धर्म की रक्षा का पूरा हक़ हो। हर मनुष्य को अपने विचारों के लिए बोलने और लिखने की और उनका प्रचार करने की भी पूरी आज़ादी हो, जबतक कि उससे किसी दूसरे का नुक़सान न होता हो (क्योंकि राज्य का यह भी तो कर्तव्य है कि वह एक के अन्याय से दूसरे को बचावे)।

३. राजनैतिक स्वतंत्रता—देश के शासन में भाग लेने का प्रत्येक मनुष्य को अधिकार होना चाहिए। राज्य सभी मनुष्यों के हित के लिए है, इसलिए उसमें सभी का हिस्सा होना चाहिए। हरेक नागरिक को वोट देने का अधिकार होना चाहिए। प्रत्येक नागरिक की राज्य में एक हैसियत होनी चाहिए। अमीर-ग़रीब, स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-दलित सबको बिना धार्मिक भेदभाव के एक समान अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ। राज्य से सब एक समान लाभ उठा सकें।

४. राष्ट्रीय स्वतंत्रता—प्रत्येक देश आज़ाद हो। जहाँ सरकार ही विदेशी हो, वहाँ रिआया को क्या अधिकार होंगे? और वह राज्य भी वहाँ की रिआया का कहाँतक फायदा कर सकता है?

यह पत्र बहुत लम्बा होगया, इतना लिखने की इच्छा तो न थी; पर जब लिखने ही बैठा, तो लिख गया।

: ३ :

प्राण-रक्षा का मेरा अधिकार

२३-५-३८

मैंने पिछले पत्र में लिखा था कि मनुष्य ने अपनी स्वतन्त्रता कायम रखने के लिए ही समाज या राज्य की कल्पना की थी। उसमें उसका उद्देश्य यही था कि मनुष्य के अधिकारों पर बलवान आक्रमण-कारी क़ब्ज़ा न कर सकें। समाज शब्द ही बहुत-से आदमियों की केन्द्रीय शक्ति के भाव को जाहिर करता है। समाज में रहनेवाले व्यक्ति—एक-दूसरे की स्वार्थ-प्रवृत्ति से—मनुष्य की प्रकृति के अन्दर जो पशुत्व छिपा हुआ है, उससे अपनी रक्षा करने के लिए ही अपनी शक्ति के कुछ भाग को एक स्थान पर इकट्ठा कर देते हैं। यही शक्ति सत्ता कहलाती है। राज्य भी इसी सत्ता का ज़बरदस्त उदाहरण है। इसका मतलब यह है कि सरकार महज राज्य करने की खातिर राज्य नहीं करती, लेकिन वह राज्य के अन्दर रहने-वालों की प्रसन्नता के लिए ही राज्य करती है। इसलिए अच्छे राज्य की कसौटी ही यह है कि जिस राज्य में मनुष्य को ज़्यादा-से-ज़्यादा स्वतन्त्रता मिली हो—मनुष्य ज्यादा से ज्यादा सुखी हो, वही उत्तम राज्य है। यहाँ यह बात याद रखनी चाहिए कि उच्छृंखलता और स्वतन्त्रता का अर्थ एक नहीं है; ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी शब्द हैं। उच्छृंखलता में एक अत्याचारी मनुष्य की आज़ादी भले ही कुछ समय के लिए क़ायम रह सकती है, लेकिन आम लोगों के लिए तो वह भीषण बन्धन की ही हालत होगी; क्योंकि

ऐसे समय में उसकी अपनी आज़ादी हमेशा ख़तरे में रहती है।

मनुष्य अपनी जिन-जिन स्वतन्त्रताओं की इच्छा करता है, उनमें सबसे पहली अपने जीने का अधिकार है। उसे अपने जीवन के बारे में पूरी बेफ़िक्री होनी चाहिए। मानवजीवन भगवान की अनुपम देन है। वह ऐसी चीज़ नहीं कि उसे कोई यों ही छीन ले। इसलिए यदि हरेक नागरिक सारे समाज या राष्ट्र से यह आशा करे कि वह उसके शरीर की पूरी तौर से रक्षा करेगा, तो यह न केवल उचित और स्वाभाविक ही है, बल्कि ज़रूरी भी है। जैसा कि मैं पीछे लिख आया हूँ, मनुष्य ने अपनी स्वतन्त्रता क़ायम रखने और अत्याचारी मनुष्य या हिंसक पशु से अपनी रक्षा करने के लिए ही अपनी शक्ति का कुछ अंश समाज में केन्द्रित किया है। समाज का सदस्य बनकर उसने अपने ऊपर जो एक बन्धन लगाया है या समाज की रक्षा के लिए जो त्याग वह करता है, उसका उसे इतना तो बदला मिलना ही चाहिए कि वह अपनी जान-माल की चिन्ता से मुक्त हो। राष्ट्र या समाज ने मनुष्य को अगर उसकी शरीर-रक्षा का भी आश्वासन न दिया, तो मनुष्य को उससे लाभ ही क्या? वह फिर उसकी चिन्ता क्यों करेगा?

इसीलिए प्रत्येक राष्ट्र का सबसे पहला कर्तव्य यह है कि वह अपने सदस्य की जान की हिफ़ाज़त के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहे। पुलिस की भी इसीलिए आवश्यकता है कि वह अत्याचारी मनुष्य और हिंसक पशु से प्रजा की रक्षा करे। जिस राज्य में पुलिस की व्यवस्था अच्छी होती है, उसमें प्रजा अपने जान-माल को सुरक्षित समझती है और निश्चिन्त होकर अपनी उन्नति करती रहती है। जहाँ मनुष्य को अपने जीवन का भरोसा ही न हो, वहाँ वह उन्नति

क्या करेगा ? इक्के-दुक्के आक्रमणकारियों के हाथों से रक्षा करने में पुलिस समर्थ हो जाती है, लेकिन जब आक्रमणकारी भी कोई समूह या विदेशी देश हो, तो उससे रक्षा करने के लिए सेना की ज़रूरत होती है। परन्तु केवल पुलिस या सेना की व्यवस्था से ही शरीर-रक्षा की गारण्टी नहीं हो जाती। बहुत-सी जगहों और मौकों पर पुलिस की मदद लेना बड़ा कठिन होजाता है। कहीं अकेले-दुकेले जाते हुए या रात को घर में चोर-डाकुओं से सामना हो जाने की हालत में तुरत ही पुलिस को बुलाना सम्भव नहीं होता। इसलिए हरेक नागरिक को सभ्य राष्ट्रों में यह अधिकार होता है कि ज़रूरत पड़ने पर वह खुद सामना करनेवाले पर वार करके अपनी आत्म-रक्षा करे। केवल आत्मरक्षा ही नहीं, अपने सगे-सम्बन्धियों, लड़के, स्त्री, मां-बाप, भाई-बन्धु की रक्षा के लिए भी हथियार उठाने का अधिकार उसे होना चाहिए। यह कोई निश्चित नहीं होता कि फलां वक्त ही कोई विपत्ति आवेगी। इसलिए नागरिकों को हमेशा हथियार रखने की इजाज़त होनी चाहिए। क़ानून में भी ऐसी गुंजायश होनी चाहिए कि हमला करनेवाले पर अपनी हिफ़ाज़त के लिए हथियार उठाने का अधिकार हो। अक्सर सब देशों में स्त्रियों को यह अधिकार होता है कि यदि कोई आक्रमणकारी उनके सतीत्व पर हमला करने लगे, तो वे अपने सतीत्व की रक्षा के लिए उसकी जान तक ले सकती हैं। लेकिन यह हमेशा याद रखना चाहिए कि आत्मरक्षा के लिए हथियार चलाने में भी एक मर्यादा तो रखनी ही पड़ेगी। एक ज़रा-सी मारपीट होने पर भी लोग एक-दूसरे की जान लेने लगें, तो इससे बड़ी अव्यवस्था फैल जायगी। आत्मरक्षा का अधिकार जितना महत्वपूर्ण है, उतनी ही महत्वपूर्ण

यह मर्यादा भी है। मनुष्य का जीवन बहुमूल्य है, इस सिद्धान्त को दोनों हालतों में—अपने पर हमले के समय भी और दूसरे पर हमला करते समय भी—याद रखना चाहिए।

सरकार का फ़र्ज सिर्फ़ अपने राज्य में ही प्रजा की शरीर-रक्षा की व्यवस्था कर देने भर से पूरा नहीं हो जाता। उसका तो यह कर्तव्य है कि वह हमेशा इस बात की चौकसी करती रहे कि किसी दूसरे देश में भी अपने नागरिकों पर कोई अनुचित दबाव न डाला जाय। सभ्य, उन्नत और जिम्मेदार सरकारें इस बात का हमेशा खयाल रखती हैं कि विदेशों में भी उनकी प्रजा पर कोई बिना वजह के आक्रमण न करे। यदि अपने किसी नागरिक की हत्या दूसरे देश में हो जाय, तो सरकार दूसरे देश की सरकार से इसका जवाब माँगती है और ठीक वजह न मिलने पर उसका मुआवजा मांगती है। लेकिन आज़ाद, ऊँचे उठे हुए और शक्तिशाली राष्ट्र ही ऐसा करते हैं। हिन्दुस्तान जैसे गुलाम देशों की सरकार में न तो अपनी ज़िम्मेदारी समझने की इच्छा है और न शक्ति। हम हिन्दुस्तानियों का विदेशों में कितना अपमान होता है, यह तुमसे छिपा नहीं है। इसका कारण हमारे देश की गुलामी है न कि दूसरी सरकारों की उपेक्षा। बलवान का सभी आदर करते हैं। गुलाम कमज़ोर हिन्दुस्तानी की कौन चिन्ता करेगा? जब खुद हिन्दुस्तान में ही हमारे जान-माल की खैर नहीं है तो विदेशी सरकारें क्यों इस बात की फ़िक्र करने लगीं? सीमाप्रान्त में कितनी स्त्रियाँ चुराई जाती हैं और कितने हिन्दुओं की हत्या हो जाती है, लेकिन सरकार ने कभी इतना बड़ा कदम नहीं उठाया जितना एक अंग्रेज़ स्त्री मिस एलिस के चुराये जाने पर उठाया गया था। सिर्फ़ आक्रमणकारी

मनुष्य से ही नहीं, बल्कि हिंसक पशुओं और बीमारियों से भी प्रजा की रक्षा करना राज्य का ख़ास कर्तव्य है। यहाँ तो इतनी बुरी हालत है कि किसान हिंस्र पशुओं से अपनी और अपनी खेती की रक्षा तक नहीं कर सकते। सूअर और रीछ आते हैं तथा गाँववालों को नुक्सान पहुँचा जाते हैं। वे कुछ नहीं कर सकते। कई रियासतों में तो यदि खेती को नुक्सान पहुँचानेवाले पशुओं को कोई मार दे, तो उसे ही राज्य की ओर से सज़ा मिलती है। कितनी भयंकर दशा है! इसका कारण यह है कि रियासती प्रजा अपने नागरिक अधिकारों को नहीं समझती और देसी राजा भी अपने कर्तव्य को नहीं पहचानते। प्रजा जब राजा को कर देती है, उसके बन्धन और नियम मानती है, क्या उसका यह आशा करना अनुचित होगा कि राज्य उसकी प्राण-रक्षा करेगा?

बाकी फिर दूसरे पत्र में।

: ४ :

मेरी शारीरिक स्वतंत्रता

१०-६-३८

आजकल यहाँ का मौसम बहुत ही ख़राब है। ख़सरा, मलेरिया, टाइफ़ाइड सभी बीमारियाँ एक-साथ फैली हुई है। हरिद्वार के कुंभ के भारी मेले ने सारे देश में हैज़े की भी बीमारी फैला दी है। दिल्ली भी हरिद्वार की इस देन से नहीं छूटा। हाल ही मेरे पड़ोस का एक तीन साल का बालक ख़सरे के साथ होनेवाले निमोनिया से गुजर गया। हिन्दुस्तान में न जाने ऐसे कितने बच्चे हरसाल ऐसी ही बीमारियों से अकालमृत्यु के ग्रास हो जाते हैं। आजकल एक भारतीय की औसत उम्र सिर्फ़ २३ साल है, जबकि १८८१ में यह औसत ३० साल थी और आजकल इंग्लैण्ड में ५५ वर्ष है। इंग्लैण्ड से हिन्दुस्तान की मृत्यु-संख्या लगभग २॥ गुनी है। इंग्लैण्ड में जहाँ मृत्यु संख्या ११.७ फ़ी हज़ार है, वहाँ भारत में १९३० में २६.८ थी। हमारे यहाँ जीवनी शक्ति इतनी कम है कि १९१८ के काले बुख़ार में एक ही साल में एक करोड़ दस लाख आदमी चल बसे। बच्चों की मृत्यु-संख्या का अनुपात २३२.६ फ़ी हज़ार है और युक्तप्रान्त में तो ३०३ है। माताओं की मृत्युसंख्या सारे भारत में फ़ी हज़ार २४.५ प्रतिशत है और अकेले बंगाल में ५० है। (इंग्लैण्ड और वेल्स में माताओं की मृत्युसंख्या १९३२ में ४.०६ थी) बंगाल में १९२६-२७ में १२,०००० मनुष्य हैजे से, ३५०००० मलेरिया से, ३५०००० क्षय से और १००००० आंतड़ियों के बुख़ार से मर गये। औसत ५५०००

नवजात शिशु हरसाल दौरे के शिकार होते हैं। भारत के चिकित्सा-विभाग के संचालक सर जान मेग ने कुछ साल पहले चौंकानेवाले आँकड़े प्रकाशित किये थे। उनके अनुसार लगभग १ करोड़ ३० लाख मनुष्य इन्द्रिय-रोगों से पीड़ित हैं (अर्थात् फ़ी २७ में से एक व्यक्ति भयंकर बीमारियों का शिकार है।) बीस लाख की संख्या क्षयरोग वालों के लिए थोड़ी है, और लगभग ६० लाख बिलकुल अंधे हैं। कम-से-कम ५ करोड़ हरसाल मलेरिया के शिकार होते हैं। यह संख्या आसानी से १० करोड़ तक लगाई जा सकती है।

कितने चौंकानेवाले आंकड़े हैं ये! यों सरसरी तौर से इन अंकों को पढ़ जाने से शायद इनकी भीषणता की कल्पना न हो, लेकिन किसी मरनेवाले के पास खड़े होकर और उसकी दशा देखने के बाद इन अंकों की भयंकरता का अंदाज़ हो सकता है। उस दिन अपने पड़ोसी के बालक को इस संसार से बिदा होते देखकर मेरे दिल में यही विचार उठने लगे।

लेकिन इसके साथ ही भवभूति के 'उत्तर रामचरित' का वह प्रसंग भी याद आया जबकि एक ब्राह्मण के पुत्र की अकाल मृत्यु हो जाती है और रामचंद्र उसकी मृत्यु के लिए अपनेको जिम्मेदार ठहराते हैं।[1] कितना ऊँचा था प्राचीन आदर्श! उस समय न सिर्फ़ हिंसक पशुओं और आततायियों से, बल्कि बीमारियों से भी प्रजा की प्राण-रक्षा करना राजा का कर्तव्य था। पिता की मृत्यु से पहले (बीमारी से) पुत्र की मृत्यु इस बात का प्रमाण मानी जाती थी कि राजा ने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया।

१. "न राजापचारमन्तरेण प्रजानामकालमृत्युः संचरति इत्यात्मदोषं निरूपयति करुणामये रामभद्रे"

असल में नागरिकों का यह अधिकार है कि वे बीमारियों से अपनेको निश्चिन्त समझें। जब मनुष्य समाज की रक्षा के लिए इतना त्याग करता है, तब समाज या राष्ट्र का भी फ़र्ज़ है कि वह मनुष्य की प्राणरक्षा की कोशिश करे। क्योंकि अगर प्रजा ही न बचेगी, तो समाज या देश का परिणाम क्या होगा ? यदि बीमारियों ने प्रजा को निःशक्त और कमज़ोर कर दिया, तो कमज़ोर आदमियों का राष्ट्र कितना बलवान होगा ? लेकिन ऊपर लिखे आँकड़े क्या सिद्ध करते हैं ? यही कि हम अपने नागरिक अधिकारों से वंचित हैं और विदेशी सरकार भारत के स्वास्थ्य की ओर से बिलकुल उदासीन है। शारीरिक स्वतंत्रता के साथ ही मनुष्य को उसकी सम्पत्ति की रक्षा की भी गारंटी मिलनी चाहिए। ज़िंदा रहने के लिए भोजन-सामग्री, कपड़े-लत्ते तथा मकान आदि की ज़रूरत हर किसीको होती है। नागरिक जो माल-मत्ता इकट्ठा करते हैं और मकान वग़ैरा बनाते हैं, उन सबकी चोर और डाकुओं से रक्षा करना सरकार का फ़र्ज़ है। अगर सम्पत्ति की रक्षा और कारोबार चलने की कोई गारंटी न दी जाय, तो संसार में धन कमाने की रुचि ही पैदा न होगी और इस कारण दुनिया की आर्थिक उन्नति रुक जायगी। हरेक मनुष्य को अगर विश्वास हो कि उसकी सम्पत्ति चोर-डाकू नहीं लेजावेंगे, तब वह बेफ़िक्र होकर अपने काम में लग सकता है और देश और राष्ट्र की उन्नति में अपना हिस्सा अदा कर सकता है। पुलिस और अदालत की व्यवस्था का एक उद्देश्य सम्पत्ति की रक्षा भी है।

लेकिन इकट्ठा की हुई सम्पत्ति का मतलब क्या ? क्या हरेक मनुष्य द्वारा किसी भी तरीक़े से कमाई हुई सम्पत्ति की रक्षा करना राज्य का फ़र्ज़ है ? एक डाकू डाका डालकर सम्पत्ति इकट्ठी करता है,

तो राज्य क्या उस डाकू की संपत्ति की भी रक्षा की गारंटी देगा ? नहीं, क्योंकि वह उस डाकू की चीज़ नहीं है—वह तो उसकी है, जिसके पास से डाकू ने वह छीनी है। इसी तरह साम्यवादियों की विचारधारा के मुताबिक अतिरिक्त पूँजी भी एक सुसंगठित और सभ्य डाके का ही नतीजा है। एक ठेकेदार मज़दूरों को ज़रूरत से भी बहुत कम पैसा देकर खुद धनी होता है, तब क्या उसकी सम्पत्ति की गारंटी भी राज्य दे ? एक जमींदार किसानों पर तरह-तरह के अन्यायपूर्ण कर लगाकर अपना तो कोठार भर लेता है और सर्दी-गर्मी में दिन-रात एक करनेवाला गरीब किसान एक वक्त रूखी-सूखी खाकर गुज़ारा करता है। ऐसे ज़मींदार की जायदाद की रक्षा करना सरकार का कर्तव्य है या नहीं ? इस सवाल पर भी तुमने सोचा ही होगा। बड़े-बड़े समाजशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों और दार्शनिकों ने इस प्रश्न पर विचार किया है। और उनमें इतना मतभेद है कि बहुत-से सम्प्रदाय बन गये हैं और प्रत्येक वाद के बारे में बहुत-सी किताबें लिखी गई हैं। एक वाद की राय है कि वह मनुष्य बहुत बड़ा पापी होगा, जिसने मनुष्य के इतिहास के शुरू में सबसे पहले किसी चीज़ पर अपना कब्ज़ा करके 'ममेदम्' (यह मेरी है) की घोषणा की होगी। इस सम्प्रदाय का कहना है कि निजी मिलकियत का ख़याल संसार की ज़्यादातर बुराइयों की जड़ है। लेकिन दूसरा सम्प्रदाय भी उतने ही ज़ोरों के साथ कहता है कि मिलकियत पर अपने-अपने अधिकार का ख़याल स्वाभाविक है, और इसीके कारण दुनिया जंगली सभ्यता से उन्नति करती-करती आज की स्थिति तक पहुँच गई है। इन दोनों सम्प्रदायों के बीच भी अनेक वाद हैं। कोई ज़मीन, कल-कारख़ाने आदि उत्पादक सम्पत्ति पर समाज का पूरा

नियन्त्रण चाहता है, तो कोई सीमित नियन्त्रण। हरेक सम्प्रदाय इस सम्बन्ध में प्रजा के नागरिक अधिकारों की अलग-अलग व्याख्या करता है। मैं इस भूलभुलैया में अभी नहीं जाना चाहता। अगर समय मिला, तो इस बारे में किसी दूसरे पत्र में कुछ लिखने की कोशिश करूँगा। यहाँ तो इतना ही कह देना काफ़ी होगा कि प्रत्येक नागरिक का यह अधिकार है कि अपनी कमाई हुई सम्पत्ति की रक्षा की गारंटी सरकार उसे दे। जो वस्तु वह कमाता है, उसे इस बात की बेफ़िक्री होनी चाहिए कि वह वस्तु कोई छीन न सकेगा। लेकिन इसमें एक शर्त है; वह यह कि वह सम्पत्ति नाजायज़ तरीक़े से न कमाई गई हो, उसे कमाते हुए किसी दूसरे का ऐसा हक़ न छीना गया हो, जिसकी रक्षा की गारंटी प्रत्येक नागरिक को सरकार द्वारा मिलनी लाज़मी है। एक चोर चोरी से दूसरे की सम्पत्ति अपने अधिकार में कर लेता है। अगर राज्य चोर की इस सम्पत्ति की रक्षा करता है, तो वह उस व्यक्ति के अधिकार की अवहेलना करता है, जिसके घर चोरी हुई है। सरकार का पहला कर्तव्य चोर से नागरिक की रक्षा करना है। अनुचित और उचित साधनों की मर्यादा क्या है, यह प्रत्येक समाज की अपनी-अपनी हालत पर निर्भर है। नागरिकशास्त्र की दृष्टि से तो इतना ही कहना काफ़ी है कि जिस राष्ट्र और जिस समय में उचित साधनों की जो मर्यादा स्वीकृत की जाती है, उसीका पालन राज्य को करना चाहिए। इस संबंध में गांधीवाद की विचारधारा भी अध्ययन करने की वस्तु है, लेकिन उसका यह स्थान नहीं है। यदि संभव हुआ, तो आर्थिक स्वाधीनता पर विचार करते हुए उसपर भी अपने विचारों से तुम्हें सूचित करूँगा।

नागरिकों को व्यापार और लेनदेन की भी खुली छुट्टी होनी चाहिए। ये सब लेनदेन अपनी इच्छा से कर सकें। लेकिन शर्त यह है कि जायदाद का लेनदेन भी स्वतन्त्रतापूर्वक हो। शरीर ही नहीं, मन भी स्वतन्त्र होना चाहिए। स्वतन्त्रता के नाम पर धमकी या जालसाजी से किया गया लेन-देन उचित नहीं हो सकता। ऐसा लेन-देन करते समय शरीर तो अवश्य स्वतन्त्र है, परन्तु धमकी या जालसाज़ी के कारण मन परतन्त्र हो जाता है। इसी प्रकार यह भी ज़रूरी है कि किसीके मरने के बाद उसकी जायदाद उसके क़ानूनी वारिसों को मिले। पागलों और नाबालिग बालकों को लेन-देन की आज़ादी नहीं दी जा सकती, क्योंकि ये लोग अपना हित नहीं जानते। इन्हें कोई भी बहका सकता है।

मनुष्य को केवल जीने का अधिकार ही नहीं चाहिए, उसे शारीरिक स्वतन्त्रता—उसके शरीर पर किसी दूसरे का अधिकार न होना—भी उतनी ही ज़रूरी है। जब एक नागरिक का अपने शरीर पर ही अधिकार नहीं है, तो वह अपना स्वतन्त्र विकास कैसे कर सकेगा? शरीर की स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि वह जो चाहे उचित काम कर सके, किसी की ग़ुलामी उसे न करनी पड़े। प्राचीन काल में कोई किसी का दास न होता था, सब स्वतन्त्र थे। लेकिन ज्यों-ज्यों मनुष्य में अधिकार और शक्ति का मद आता गया, वह अपने से दुर्बल पर अपना कब्जा करता गया। हारे हुए को अपना ग़ुलाम बनाने की प्रवृत्ति प्रायः सभी जातियों में पाई जाती है। मनुष्य के अन्दर जो पशुत्व छिपा हुआ है वह सभी देशों में हमें दीखता है। और आश्चर्य तो यह है कि बड़े-बड़े विद्वानों और विचारकों के दिमाग़ से भी पशुत्व का यह अभिमान दूर नहीं हो सका है। ग्रीस

के प्रसिद्ध विचारक अरस्तू ने बड़ी गम्भीरता के साथ साबित करने का प्रयत्न किया है कि कुछ मनुष्य स्वभाव से स्वामी होते हैं और कुछ दास। परन्तु मनुष्य तो स्वभाव से एक मनुष्य है, उसे कोई पदार्थ नहीं माना जा सकता और इसीलिए उसे ग़ुलाम भी नहीं बनाया जा सकता। पुरुषों के शरीर, मस्तिष्क और मानसिक विकास में जो अन्तर होता है उससे यह तो ज़रूर मालूम होता है कि हरेक मनुष्य को अलग-अलग काम करने के लिए चाहिए, लेकिन किसी एक को दूसरे की गुलामी करनी चाहिए, यह तो किसी तरह भी साबित नहीं होता।

राजनीतिशास्त्र का तक़ाज़ा है कि हरेक नागरिक को पूरी शारीरिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। वह जो चाहे काम करे, जहाँ चाहे जाय, जहाँ विवाह करना चाहे करे, जो कमाये खाये। इन सब बातों में सिर्फ़ इतना ख़याल रखना होगा कि उसके किसी काम से समाज में न अव्यवस्था फैले और न उससे किसी दूसरे का नुकसान हो, क्योंकि इससे एक दूसरे नागरिक के अधिकार छिन जाते हैं। प्राचीन भारत में भी इस स्वार्थ को समझा जाता था, लेकिन उनकी दृष्टि केवल आर्यों तक सीमित थी। कौटिल्य अर्थशास्त्र में "न त्वार्यस्य दासभावः" कहकर किसी आर्य को दास बनाने का निषेध किया है। आज भी रियासतों में छोटी मानी जाने वाली जातियों को दास रखने की प्रथा मौजूद है। जर्मनी के हर हिटलर आजकल यहूदियों को नागरिकता के अधिकार देने से इन्कार कर रहे हैं। उनकी हलचलों पर तरह-तरह के बन्धन लगाये जा रहे हैं। असल में राज्य के प्रत्येक नागरिक को, चाहे वह किसी जाति, किसी धर्म या लिंग (Sex) का हो, शारीरिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए। स्त्रियों की समाज

में क्या स्थिति हो, यह प्रश्न भी इसके साथ पैदा होता है। लेकिन यह प्रश्न खुद एक बड़ा और गम्भीर प्रश्न है, इसके बारे में किसी दूसरे पत्र में लिखना ठीक होगा।

शारीरिक स्वतंत्रता के सम्बन्ध में एक और बात कहकर यह पत्र समाप्त कर दूंगा। मैं एक पिछले पत्र में बता चुका हूँ कि "ज्यों-ज्यों मनुष्य की स्वाधीनता की रक्षा के लिए ये नवीन साधन उत्पन्न होते गये, त्यों-त्यों मनुष्य के पैरों में अधिकाधिक गुलामी की जंजीरें पड़ने लगीं। जिस रोग के इलाज के लिए, धर्म सामाजिक व्यवस्था और राज्य आदि साधन बनाये गये, उसे हटाते-हटाते उन सबने एक नई बीमारी पैदा करदी।" असल में राज्य खुद भी मनुष्य की ग़ुलामी की एक ख़ास वजह बन गया है। पुलिस और राज्य का कर्तव्य तो यह है कि वह मनुष्य की शारीरिक स्वतंत्रता की रक्षा करे, लेकिन वह स्वयं ही उसका ग्राहक बन गया है। इसका उदाहरण देखना हो तो आज से चार-पाँच साल पहले हमारे यहाँ जो विलिंगडन राज था, जो आर्डिनेंसराज के नाम से भी प्रसिद्ध है, उसे देखो। अदालत में मुकदमा चलाकर अपराध साबित किये बिना सैंकड़ों लोग जेल में डाल दिये गये, सैकड़ों लोगों का अपने घरों या मुहल्लों से निकलना बन्द कर दिया गया, सैकड़ों की लिखने-बोलने की आज़ादी छीन ली गई। राजनीतिशास्त्र का यह पहला उसूल है कि किसी नागरिक को तबतक कोई सज़ा नहीं दी जा सकती, जबतक कि उसपर अदालत में अपराध साबित न हो जाय। खाली सन्देह में ही किसीको सज़ा नहीं दे देनी चाहिए। अदालत में भी मुकदमा लड़ने की पूरी सुविधा और न्याय की गारंटी उसे दी जानी चाहिए। यदि कोई हत्या का मुलजिम ग़रीबी के कारण अपना वकील करने में

असमर्थ है तो राज्य का यह फ़र्ज़ होना चाहिए कि वह उसके लिए वकील की व्यवस्था करदे, ताकि सिर्फ पैसे के अभाव में वह अपने-को निरपराध साबित करने से वंचित न रह जाय। यदि कभी कोई सरकारी अफसर अपने अधिकारों का दुरुपयोग करके नागरिकों की स्वतन्त्रता छीन ले तो उसपर साधारण अदालत में साधारण क़ायदे से मुकदमा चलाया जा सके। जुदे-जुदे देशों की जनता ने इस अधिकार की प्राप्ति के लिए काफ़ी लड़ाई लड़ी है। इंग्लैण्ड का 'हैबियस कार्प्स एक्ट' इसका सबसे साफ़ उदाहरण है। मैग्ना-चार्टा (अधिकारपत्र) की ३९ और ४० धारा के अनुसार कोई भी अंग्रेज़ नागरिक सरकार के किसी भी बड़े-से-बड़े अफ़सर द्वारा गिरफ्तार या दण्डित नहीं किया जा सकता, जबतक कि उसपर मुकदमा न चलाया गया हो और वह पूरी तरह साबित न होगया हो। यदि किसी नागरिक को बिना अपराध सिद्ध हुए गिरफ्तार कर लिया जाय, तो इंग्लैण्ड के इस शासन-विधान के अनुसार उसके रिश्तेदारों को पूरा हक है कि उसपर मुकदमा चलाने का अनुरोध ऊँचे अफ़सरों से कर सकें। बिना किसी वारण्ट के कभी किसी को गिरफ़्तार नहीं किया जा सकता और किसीको २४ घण्टे से ज्यादा पुलिस अपनी हवालात में नहीं रख सकती, जबतक कि अदालत से इजाज़त न ले ली जाय।

इन्हीं नियमों के कारण इंग्लैण्ड आज सब देशों से अधिक स्वतन्त्र समझा जाता है। सभी देशों की सरकारों द्वारा सताये हुए लोग इसी कारण इंग्लैण्ड की भूमि में अपनेको स्वतन्त्र समझने लगते हैं। अगर अंग्रेज़ जनता अपने देश की इस विशेषता पर अभिमान करती है तो उसका यह अभिमान अनुचित नहीं है,

लेकिन उसकी यह स्वातंत्र्य-प्रियता केवल इंग्लैण्ड तक सीमित है। हमारे यहाँ भारत में ठीक इससे उलटा हो रहा है। यहाँ नागरिक स्वाधीनता तो नाम को भी नहीं। ऐसा मालूम होता है कि अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों और शासकों के राजनैतिक सिद्धान्त इंग्लैण्ड के लिए एक हैं और हिन्दुस्तान के लिए दूसरे। पर आज़ाद और ग़ुलाम देश में यह फ़र्क स्वाभाविक है। इन्हीं अधिकारों की प्राप्ति के लिए तो भारत स्वराज्य का युद्ध लड़ रहा है।

पर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में कुछ अपवाद भी हैं। सड़ी, गली या कड़वी चीज़ और पानी मिला दूध बाज़ार में बेचने की इजाज़त नहीं होनी चाहिए। चिकित्सा का हरेक को ही अधिकार नहीं दे देना चाहिए। "नीम हकीम खतरये जान।" इसके लिए किसी योग्यता का हासिल कर लेना ज़रूरी होना चाहिए। पागल लोगों को सड़कों पर न जाने देना या फौजदारी करनेवालों को पहले से ही पकड़ लेना भी उचित है। माँ-बाप यदि बच्चों का या पति-पत्नी का पालन-पोषण न करे तो उन्हें इसके लिए भी बाधित किया जा सकता है। इसी तरह और भी कई अपवाद बताये जा सकते हैं।

: ५ :

मेरी अपनी सरकार

१३-६-३८

तुम्हारा पत्र अभी मिला। पत्र पढ़कर खुशी हुई। तुम्हारी अनेक उलझनें पढ़कर मैं ज़रा भी चिन्तित नहीं हुआ। यह तो काम की शुरुआत है। इस संसार का मार्ग इतना सुगम नहीं है कि यात्री आँखें मूँदे उसपर से मज़े में गुजर जाय। इसमें तो पद-पद पर समस्यायें हैं, अनेक कठिनाइयाँ हैं, कहीं नदी-नाले हैं तो कहीं छोटी-छोटी चट्टानें या पहाड़। इन सभीको पार करना ही होगा। तुम लिखते हो कि तुमने छोटी-सी पंचायत कायम की है। इसमें तुम्हें कई विघ्नों का सामना करना पड़ा है। इस प्रश्न पर ब्राह्मण व राजपूत एक ओर थे और हरिजन भाई दूसरी ओर। ब्राह्मणों और राजपूतों का कहना है कि हरिजनों को पंचायत का सदस्य चुनने का अधिकार न हो। शेख़ और सैयद मुसलमान भी उनके साथ हैं। और तुम हरिजन भाइयों को उनका अधिकार देना चाहते हो। मैं पिछले दो पत्रों में नागरिक की शारीरिक स्वतंत्रता के बारे में तुमको लिख चुका हूँ। आज मैं चाहता तो था तुमको सामाजिक स्वतंत्रता पर कुछ लिखूँ, लेकिन तुम्हारा पत्र मिलने के बाद अब मैं मताधिकार के प्रश्न पर ही लिखना चाहता हूँ। इस समय यही बड़ा सवाल तुम्हारे सामने है। इस सवाल को ठीक तरह समझने के लिए कुछ गहराई में जाना पड़ेगा।

मैज़िनी इटली का एक मशहूर विचारक होगया है। वह एक जगह लिखता है कि "जबतक तुम्हारे देश-बन्धुओं में से एक भी ऐसा है,

जिसका राष्ट्रीय जीवन की उन्नति के लिए अपना चुना हुआ प्रतिनिधि नहीं है, तबतक तुम्हारा देश सबका और सबके लिए नहीं है, जैसा कि वह होना चाहिए।"

जब मनुष्य की उन्नति और विकास के लिए ही समाज या सरकार का संगठन हुआ है, तब उसकी नीति बनाने में भी उसका हाथ होना चाहिए॥ यदि ऐसा न हो, तो समाज या सरकार स्वतंत्रता की रक्षा में सहायक न होकर बाधक होजाती है। ऐसा नियम या बन्धन, जो जनता की सलाह से उलटा हो या उसके हितों के प्रतिकूल हो, मनुष्य की अवनति का कारण बन जाता है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् रूसो के कथनानुसार सरकार लोगों का परस्पर एक सामाजिक समझौता है। लोगों ने अपनी इच्छा से आपस में समझौता करके अपने अधिकार अपने कल्याण के लिए समाज को दे दिये हैं न कि राजा को। तमाम लोगों के दिये हुए अधिकारों का एकीकरण समाज के हाथ में होता है और फिर समाज अपनी सुविधा के लिए राजा अथवा अन्य अधिकारियों को नौकर रखकर उनके हाथों में सब अधिकार देता है। अर्थात् राजसत्ता या स्वामित्व जनता के हाथ में है न कि किसी व्यक्ति, श्रेणी या व्यक्ति-समूह में। जब यह बात मान ली गई, तब यह मानने में कोई संकोच नहीं रहता कि शासन में प्रत्येक नागरिक का अधिकार स्वाभाविक है। प्रो० हैराल्ड लास्की अपनी (An Introduction to Politics) पुस्तक[१] में सरकार और मनुष्य के सम्बन्ध का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि नागरिक अपनी प्रसन्नता के लिए कुछ शर्तों के साथ—

१. लोकसाहित्यमाला में सस्ता साहित्य मण्डल से यह 'राजनीति प्रवेशिका' के नाम से प्रकाशित हो रही है। मूल्य ।।)

अपने खास अधिकारों की गारंटी के साथ सरकार का नियंत्रण स्वीकार करना चाहता है। मनुष्य तभी प्रसन्नता अनुभव कर सकता है, जब उसे अपनी व्यक्तिगत रक्षा का अधिकार हो, उसे रोज़ी कमाने के साधन प्राप्त हों, वह शिक्षा प्राप्त कर सके, उसके धर्म, भाषा आदि पर कोई रुकावट न हो, अपने ज्ञान और विचार के प्रयोग का अधिकार हो, अर्थात् अपने विचार लिख या बोलकर प्रकट करने में कोई बाधा न हो। इन अधिकारों का संक्षिप्त वर्णन करने के बाद प्रो० लास्की लिखते हैं कि कोई सरकार इस उद्देश्य को तबतक प्राप्त नहीं कर सकती, जबतक वह बालिग-मताधिकार के अधिकार पर संगठित प्रजातन्त्र सरकार न हो। उस सरकार में न केवल भाषण और संगठन की स्वतंत्रता ज़रूरी है, लेकिन यह भी उसमें स्वीकार कर लेना आवश्यक है कि जाति, धर्म, लिंग या सम्पत्ति नागरिक अधिकारों के उपभोग में कुछ भी बाधक न होगी। इतिहास का अनुभव हमें यह बताता है कि जब किसी वर्ग से अधिकार छीन लिया जाय, तब जल्दी या देर में वह अधिकार से प्राप्त होनेवाली सुविधाओं से भी वंचित हो जाता है। यह बहुत स्वाभाविक है कि सरकार जनता के जिस हिस्से से शक्ति प्राप्त करती है, उसीकी आवश्यकताओं का ख़याल भी करेगी। इसलिए जितने बड़े भाग पर सरकार का संगठन निर्भर हो, उतनी ही अधिक यह उम्मीद की जा सकती है कि वह देश के बड़े भाग की इच्छाओं को पूरा करने का प्रयत्न करेगी।

अमेरिका के भूत पूर्व राष्ट्रपति प्रो० विल्सन कहते हैं कि "जिन शक्तियों से राष्ट्रीय और राजकीय विकास होता है, ठीक उन्हींसे क़ायदों का निर्माण और विकास होता है।……एकतंत्र या प्रजातंत्र दोनों प्रकार की शासन-पद्धतियों में कायदे लोगों के रस्म-रिवाज या पसं-

दगी-नापसंदगी को देखकर बनेंगे। क़ानून बनानेवालों का काम अपनी इच्छा से कायदों का आविष्कार करना नहीं है, उनका काम है लोगों की आवश्यताओं को जानकर उन्हें कायदे का स्वरूप दे देना। क़ायदा व्यक्तियों की रचना नहीं है, वह है समाज की ख़ास-ख़ास आवश्यकताओं की, ख़ास-ख़ास मौकों की, विशिष्ट संकटों या दुर्दैवों की।" अनियंत्रित निरंकुश शासकों के प्रजा पर ज़बरदस्ती लादे जाने वाले कायदों की ओर निर्देश करते हुए प्रो० विल्सन कहते हैं—"शासक अपनेको समाज से अलग नहीं कर सकते। यह बात दूसरी है कि शासकों के कार्यों को समाज चुपचाप मान ले।···कभी-कभी कायदे का स्वरूप अल्पसंख्यक लोगों या किसी एक व्यक्ति की आज्ञा ही जान पड़ता है, परन्तु जबतक समाज उस कायदे के पीछे अपना ज़ोर न लगावेगा, तबतक वह चल नहीं सकता। कायदा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लोगों को सम्मत होना ही चाहिए और इस प्रकार उनका ज़ोर भी उसे मिलना चाहिए।" इसका एक इतिहास-प्रसिद्ध उदाहरण भी आपने दिया है। जबतक रूस के ज़ार की सत्ता थी, वह क़रीब-क़रीब अनियंत्रित दीख पड़ती थी। प्रो० विल्सन के मतानुसार उसकी भी नींव जनता ही थी। "ज़ार को व्यक्तिगत शक्ति कोई भारी शक्ति नहीं थी। वह वहाँके धर्म का सर्वोच्च अधिकारी था। वह राष्ट्र का और उसके इतिहास का और उसके विकास का पवित्र प्रतिनिधि था। उसकी शक्ति की जड़ें लोगों के मनों में भीतर घुसी हुई थीं।" जब वे जड़ें शिथिल होगई, तो ज़ारशाही का नामोनिशान न रहा। अपने विचार को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं कि "राष्ट्र की आदत ही कानून-निर्माता का असली मसाला है और उसकी वही मर्यादा है। वे खूब कड़ी और भयानक वस्तु हैं। यदि

वह उनका तिरस्कार करेगा, तो वे अपना आदर कराने को ज़रूर ज़ोर देंगी। और अगर वह उनपर किसी प्रकार ज़बरदस्ती (दमन) करेगा, तो वे (बारूद गोलों के सहारे) भयंकर जोर से फूटेंगी और उसका सत्यानाश कर देंगी। राज्य-प्रभुता उसके हाथ में नहीं, वह समाज के हाथ में है।...कायदे की दृष्टि से राज्य-प्रभुता का अस्तित्व है समाज की संकल्पशक्ति में, फिर वह चाहे चुपचाप रहे या ज़ोर दिखलावे और राजकीय झगड़ों का क्षेत्र तैयार करदे। राजा या पार्लमेण्ट उसके केवल साधन हैं, वे कोई बात उसी की प्रेरणा से कहते हैं, वास्तव में राज्य-प्रभुता का निवास समाज में है।"

विल्सन के इस लम्बे उद्धरण के बाद जनता के शासन-अधिकार के सम्बन्ध में और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। अब्राहम लिंकन के "Government of the people, by the people for the sake of people" या "by all for all" के सिद्धान्त का भी यही अर्थ है।

हैराल्ड लास्की लिखते हैं कि "नियम या क़ानून केवल आज्ञा ही नहीं देते हैं। वे तो नागरिकों की इच्छाओं की पूर्ति के साधन हैं। सब नागरिक खुद या अपने प्रतिनिधियों द्वारा मिलकर इस बात का फ़ैसला करते हैं कि उनकी इच्छाओं और ज़रूरतों को किस तरह ज़्यादा-से-ज़्यादा पूरा किया जा सकता है। इच्छापूर्ति के ये साधन ही क़ानून हैं। नागरिक अपनी सामूहिक इच्छा से विरुद्ध नियम का पालन न करना चाहें तो उनपर कोई रोक नहीं लगा सकता। उनकी समझ ठीक हो या ग़लत, उन्हें अपनी समझ के अनुसार चलने का अधिकार है; तभी वह स्वतंत्र रह सकता है। दूसरे का नियंत्रण मानना ही पराधीनता है।........दूसरे शब्दों में क़ानून आज्ञा नहीं है, वह

एक प्रार्थना है, जो नागरिक परस्पर मिलकर एक-दूसरे से करते हैं।"

जब राज्य की हद एक या दो-तीन नगरों तक ही सीमित होती थी, तब प्रत्येक नागरिक का शासन-कार्य में भाग लेना मुमकिन था। ग्रीस के नगर-राज्यों में यही होता था। लेकिन जैसे-जैसे राज्य का दायरा फैलता गया, प्रत्येक व्यक्ति का उसमें भाग लेना मुश्किल होता गया। इसलिए प्रतिनिधितन्त्र का तरीका निकला। इसके अनुसार जनता एक नियत समय के लिए शासन-कार्य में भाग लेने का अधिकार अपने विश्वस्त प्रतिनिधियों को सौंप देती है। ये प्रतिनिधि असल में लोकमत के ही वाहन हैं और जब कभी इन प्रतिनिधियों ने सारी शासनसत्ता हाथ में लेने की कोशिश की, तभी जनता ने उन्हें गिरा दिया। प्रतिनिधियों के अधिकारों को नियंत्रित करने के भी अनेक प्रयत्न किये गये हैं। ब्रिटिश पार्लमेण्ट का चुनाव सात वर्ष से पाँच वर्ष कर दिया गया, और अनेक देशों में तीन-तीन वर्ष के बाद चुनाव होता है। इससे जनता को अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर अपना मत प्रकट करने का अवसर प्राप्त होता है और जो उम्मीदवार उनके विचार के अनुसार कार्य करने का वचन देता है, उसीको वे चुनते हैं। स्वीज़रलैण्ड आदि देशों में 'रेफ़रेण्डम',[1] 'इनीशियेटिव',[2]

१. **रेफ़रेण्डम**—अपने चुने हुए प्रतिनिधियों पर पूर्ण विश्वास न रखने के कारण इस प्रथा को जन्म दिया गया है। इसके अनुसार प्रतिनिधि-सभा में पेश होनेवाले प्रत्येक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक का मत जानना चाहिए। प्रतिनिधि-सभा के निर्णय पर जनमत की स्वीकृति आवश्यक है। इससे जनता के कंधों पर शासन की सीधी जिम्मेदारी पड़ती है। राष्ट्र की समस्त जनता ही असेम्बली हो जाती है।

२. **इनीशियेटिव**—जनता या मतदाताओं का एक बड़ा भाग किसी प्रस्ताव पर दस्तखत करके उसे नियम बनाने के लिए खुद पेश करता

'रिकाल'[१] और प्लीबिसाइट[२] की प्रथायें प्रतिनिधियों पर अपना पूर्ण नियंत्रण कायम करने और शासन में अपना भाग अधिकाधिक रखने के लिए आविष्कृत हुई हैं। इन सब पद्धतियों के अपने-अपने गुण और दोष हैं, लेकिन इतने विस्तृत और गम्भीर विवेचन की हमें ज़रूरत नहीं।

प्रतिनिधितन्त्र में जनता अपने मताधिकार द्वारा ही शासन व नीति बनाने में भाग ले सकती है और यह मताधिकार हरेक नागरिक को बिना किसी जाति, धर्म या लिंग के भेदभाव के मिलना चाहिए। यदि किसी श्रेणी या वर्ग को हम इससे वंचित रखते हैं, तो उनके प्रतिनिधि न होने के कारण उनके हित की हानि हो सकती है। आजकल यद्यपि अनेक देशों में सब नागरिकों को वोट देने का हक मिला हुआ है, फिर भी बहुत-से देशों में यह हक सबको नहीं है। हमारे यहाँ ही तुम देखोगे कि प्रान्तीय असेम्बलियों में प्रतिनिधि चुनने का अधिकार सब बालिग़ व्यक्तियों को नहीं है। यहाँ मताधिकार की योग्यता का मुख्य आधार अभीतक (नये १९३५ के शासनविधान के अनुसार भी) सम्पत्ति है; जैसे मालगुजारी देना,

---

है। अगर बहुमत ने उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, तो वह क़ानून बन जाता है।

१. **रिकाल**——एक निर्वाचन-क्षेत्र के मतदाताओं का विश्वास जब अपने प्रतिनिधि पर न रहे, तब वे उसे वापस बुला सकते हैं।

२. **प्लीबिसाइट**—सरकार की नीति का समर्थन या विरोध करने के लिए प्रत्येक नागरिक से मत लिया जाता है। अभी कुछ समय पहले हर हिटलर ने आस्ट्रिया को जर्मनी में मिलाने पर जर्मनी और आस्ट्रिया के सारे निवासियों से जो मत लिया वह, प्लीबिसाइट ही था।

लगान देना, इन्कमटैक्स देना और शहरों में मकानों का किराया (भाड़ा) देना। इनके अलावा शिक्षासम्बन्धी योग्यता के आधार पर भी मताधिकार दिया गया है। स्त्रियों और हरिजनों के सम्बन्ध में कुछ ढील की गई है। लेजिस्लेटिव कौंसिलों के चुनाव में तो मताधिकार की योग्यता बहुत ऊँची रक्खी गई है। असेम्बलियों और कौंसिलों में ही नहीं, म्यूनिसिपल कमेटियों और ज़िला बोर्डों तक में हमारे यहाँ सबको प्रतिनिधि चुनने का अधिकार नहीं दिया गया। यह बहुत बड़ी कमी है, जिसे दूर करना बहुत ज़रूरी है। किसी नागरिक को पैसे की कमी की वजह से वोट देने का हक़ न देना कितना बड़ा अन्याय है! आजकल समाज का जिस प्रकार का दूषित आर्थिक संगठन है, उसमें बहुत-से आदमियों का ग़रीब रहना स्वाभाविक है। केवल अमीर ही राष्ट्र की सेवा नहीं करता, ग़रीब भी तो राष्ट्र का अङ्ग है और कई प्रकार से—मिहनत आदि करके—राष्ट्र की सेवा करता है। आज भी सेना में जो लोग भरती होते हैं, उनमें से ज्यादातर ग़रीब होते हैं। अतः एक व्यक्ति को केवल ग़रीब होने की वजह से ही हम समाज का अंग मानने से इन्कार नहीं कर सकते। समाज के हरेक अंग को समाज के विकास में और ख़ासकर अपने ऊपर लागू होनेवाले क़ानूनों के बनाने का हक़ होना ही चाहिए, नहीं तो वे क़ानून उसपर ज़बर-दस्ती लादे गये बंधन से कम न होंगे। किसीने ठीक ही कहा है कि हरेक बालिग व्यक्ति अपना हित समझने की योग्यता रखता है।

इसी तरह शिक्षा को भी मताधिकार की योग्यता नहीं बनाया जा सकता। शिक्षा को योग्यता बनाने के सम्बन्ध में सबसे बड़ी दलील यह दी जा सकती है कि अनपढ़ आदमी देश की समस्याओं को नहीं समझ सकते और न अपने मताधिकार का उपयोग ही ठीक

कर सकते हैं। लेकिन यह भ्रम है। किसीको पाँचवीं या आठवीं जमात तक पढ़ लेने भर से राजनैतिक ज्ञान नहीं आ जाता। तुम अपने ही गाँव में देखोगे कि बहुत-से बूढ़े ग्रामवासी निरक्षर भले ही हों, लेकिन वे मूर्ख नहीं हैं। बातचीत में और पंचायतों में उनकी समझदारी और बुद्धिमत्ता का अच्छा परिचय मिलता है। हमारे गाँवों की स्त्रियाँ भी निरक्षर भले ही हों, लेकिन सैकड़ों सालों से आनेवाली प्रथाओं और रामायण, महाभारत आदि की बीसियों ज्ञानभरी कहानियों के सुनने से उन्हें धर्म, कर्म और अपने व्यवहार का विशेष ज्ञान होता है। अनपढ़ लोगों की पंचायतों के फ़ैसले अक्सर अदालती फ़ैसलों से कहीं ज़्यादा ठीक होते हैं। फिर एक बात और। चुनाव के कारण वोट देनेवालों को राजनैतिक शिक्षा बहुत आसानी से प्राप्त हो जाती है। चुनाव में खड़ी होनेवाली राजनैतिक पार्टियाँ मतदाताओं को अपने-अपने विचारों और सिद्धान्तों की खूब अच्छी शिक्षा देती हैं।

मताधिकार का प्रश्न राजनीतिशास्त्र में बहुत ज़्यादा महत्त्व रखता है। इसपर और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है और कुछ ख़ास सवालों पर तो, जिनका ज़िक्र इस पत्र में नहीं कर पाया, मैं ख़ासतौर से लिखना चाहता हूँ। लेकिन अब आज यहीं तक। बाक़ी अगली चिट्ठी में।

: ६ :

मताधिकार

१५-६-३८

प्रजा अपने देश के शासन में भाग ले सके, इसका सबसे सरल और चालू तरीक़ा यह है कि उसे क़ानून बनाने और शासन करने-वाली सभा के सदस्यों का चुनाव करने—वोट देने का हक़ हासिल हो। पिछले पत्र में मैं बता चुका हूँ कि वोट देने के लिए किसी नागरिक पर सम्पत्ति या शिक्षा की क़ैद नहीं लगानी चाहिए। इसी सवाल पर आज कुछ और विचार करने की इच्छा है।

बहुत-से देशों में सब जातियों को वोट देने का अधिकार नहीं है। इतिहास इसके उदाहरणों से भरा पड़ा है। अछूतों, विधर्मियों और पराजितों को ज्यादातर देशों में शासन में भाग लेने का अधिकार हासिल न था; पर जब हमने यह मान लिया कि प्रत्येक व्यक्ति अपने देश का एक अंग है, तो उसे समान अधिकार भी मिलना ही चाहिए। छोटी-छोटी जातियाँ, धर्म या श्रेणियाँ भी नागरिक-अधिकारों से वंचित क्यों रक्खी जायँ ? उन्हें भी मानव-समाज का एक सदस्य होने की हैसियत से सरकार या समाज के सब लाभ उठाने का अधिकार है। उनकी संस्कृति, उनकी भाषा, उनके रीति-रिवाज और धर्म आदि की रक्षा तभी हो सकती है, जब हम उन्हें भी बराबरी का दर्जा देकर उन्हें वोट देने का अधिकार द। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका का एक मुख्य सिद्धान्त है (No taxation without representation) जबतक शासन में प्रतिनिधित्व न हो, तबतक

सरकार को भी टैक्स नहीं देना चाहिए। मनुष्य को स्वतंत्र मान लेने पर हम किसीको बाधित नहीं कर सकते, लेकिन जब वह समझौते के क्षेत्र में आजाता है, राज्य से होनेवाली सुविधायें प्राप्त करता है, तब उसके बन्धनों को भी मानता है; और जब बन्धन मानता है, तब अपने लिए सुविधायें भी ज़रूर चाहेगा। इसीलिए राष्ट्र के छोटे-से-छोटे अंग को भी अपने अधिकार से वंचित नहीं रख सकते। शासन में भाग न होते हुए भी टैक्स देने का अर्थ है ग़ुलामी। अल्पसंख्यक जातियों की समस्या का भी यही हल है। उन्हें भी राज्य-शासन में भाग लेने का पूरा मौक़ा मिलना चाहिए। बहुमत अल्पमत को दबा न ले, इसका भी प्रायः प्रत्येक सभ्य राष्ट्र में ध्यान रक्खा जाता है। अल्पमत वाली जातियों को कुछ विशेष गारण्टी दी जाती है। बेलजियम, जर्मनी, फ्रांस, आस्ट्रिया,[१] पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, चेकोस्लेवाकिया आदि में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रथा प्रचलित है। राष्ट्रसंघ ने भी इसके बारे में कुछ नियम बनाये हैं। हमारी राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस ने भी अल्पसंख्यक जातियों के कुछ मौलिक अधिकार स्वीकृत कर उन्हें गारण्टी दी है कि उनके नागरिक अधिकारों पर कुठाराघात नहीं किया जायगा। राष्ट्रसंघ व कांग्रेस के प्रस्ताव इस पत्र के साथ अलग से देता हूँ। (देखो परिशिष्ट)

स्त्रियों को मताधिकार मिलना चाहिए या नहीं, यह प्रश्न भले ही आज विवादकोटि से बाहर निकल गया हो, लेकिन कुछ वर्ष पहले यह बात न थी। यह बड़ा विवादास्पद प्रश्न था। स्त्रियों ने अपने अधि-

१. अब तो आस्ट्रिया का अस्तित्व ही नहीं रहा, वह हर हिटलर की कूटनीति और अन्य यूरोपियन राष्ट्रों की नपुंसकता से जर्मनी में मिला लिया गया है।

कारों की प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े संघर्ष किये। इंग्लैण्ड में तो उन्होंने बड़े-बड़े प्रदर्शन किये, पार्लमेण्ट की खिड़कियों के शीशे आदि तक तोड़ डाले। बड़ी लम्बी जद्दोजहद के बाद उन्हें १९१८ में यह मताधिकार मिला, यद्यपि नार्वे, डेनमार्क और हालेण्ड में स्त्रियों को यह अधिकार पहले से प्राप्त था। आश्चर्य की बात यह है कि इंग्लैण्ड में स्त्रियाँ राजगद्दी पर बैठ सकती थीं, लेकिन फिर भी उन्हें मताधिकार देने की बात अंग्रेज़ों की समझ में बहुत समय बाद आई। फ्रांस की क्रान्तिकारिणी नेशनल असेम्बली ने भी १७८९ ई० में स्त्रियों के प्रार्थनापत्र को अस्वीकृत कर दिया था। पर अब ज़माना बदल गया है। अमेरिका ने १९१९ में स्त्रियों को यह अधिकार दिया। युद्ध के बाद तो प्रायः सभी देशों में पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी यह अधिकार मिल चुका है।

प्रसिद्ध अंग्रेज़ विद्वान् जॉन स्टुअर्ट मिल ने स्त्रियों के राजनैतिक और नागरिक अधिकारों के लिए ख़ूब प्रचार किया है। मिल की युक्तियों का सारांश यह था कि अच्छे शासन की ज़रूरत पुरुषों को ही नहीं, स्त्रियों को भी है। जब स्त्रियों को सम्पत्ति रखने का अधिकार है, जब वे टैक्स अदा करती हैं, जब वे सरकार तक चला सकती हैं, तब वे सिर्फ मताधिकार ही क्यों नहीं प्राप्त कर सकतीं? सरकार में स्त्रियों का भाग न होने का परिणाम यह हुआ कि पुरुष-समाज स्त्रियों के हित को भूलकर सदा ऐसे ही क़ानून बनाता रहा है, जो पुरुषों के अनुकूल हों। यह सच भी है। तुम स्वयं देखोगे कि हमारे प्राचीन पुरुष स्मृतिकारों तक ने स्त्रियों के अधिकारों की बड़ी उपेक्षा की है। पतिव्रत धर्म का उपदेश देने में ही स्मृतिकारों ने अपनी सारी ताक़त ख़र्च करदी हैं, लेकिन पत्नीव्रत का उपदेश कहीं नहीं मिलता।

पुरुषों को बहुविवाह का पूर्ण अधिकार दिया गया है, जबकि एक बाल-विधवा को उमर-भर विधवा रहने पर विवश होना पड़ता है। हिन्दू क़ानून में स्त्री को विरासत तक का अधिकार प्राप्त नहीं। इस्लाम में भी स्त्रियों की बहुत बुरी दशा है। और यही हालत यूरोप में भी थी। वहाँ भी पत्नी के शरीर पर पति का अधिकार था। यह सब इसलिए संभव हो सका कि क़ानून का निर्माण और शासन पुरुष जाति के हाथ में था। लेकिन आज यह स्थिति नहीं है। आज की नारी बहुत आगे बढ़ गई है। अब वह राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं, संसार के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य का मुक़ाबला करने लगी है। भारत के भी बड़े-बड़े शहरों में तुम यह अपनी आँखों से देख चुके होगे।

लेकिन इसके साथ ही एक नया प्रश्न पैदा होता है, कि आखिर नारी के अधिकार क्या हों? उसका कर्त्तव्यक्षेत्र क्या है? मेरी अपनी राय यह है कि उसे अधिकार तो पुरुषों के से ही मिलने चाहिएँ। वह भी उसी परमात्मा की सृष्टि है। संसार की सभ्यता के इतिहास में—पुरुष के निर्माण में, राष्ट्रों के उत्थान और पतन में, नारी का भी वही भाग है जो पुरुष का है। स्त्री और पुरुष मिलकर एक पूर्ण व्यक्ति बनते हैं। पुरानी कहावत के अनुसार स्त्री और पुरुष एक गाड़ी के दो पहिये हैं। इनमें से किसी एक की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। दोनों को जीवन का, अपने अधिकारों की रक्षा का, समान अधिकार है। लेकिन अधिकारों की समानता का अर्थ कर्तव्य-क्षेत्र की एकता नहीं है। तुम भले ही मुझे अनुदार या पुराणपन्थी समझो, लेकिन मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि स्त्री और पुरुष की शरीर-रचना में भेद करके परमात्मा ने ही दोनों के कार्यक्षेत्र जुदे-जुदे बना दिये हैं। आज की नारी इसे भूल गई है। प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता

लैकी की राय बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। वह कहता है कि "यूरोप की स्त्रियों ने अपनी सभ्यता में चाहे कितनी ही उन्नति की हो, पर उनकी वह उन्नति हमेशा पुरुषोचित रही है। स्त्रियोचित गुणों का—प्रेम, विश्वास, लज्जा, दया, सहानुभूति आदि का—पूर्ण विकास यहाँ की सभ्यता में नहीं हुआ है। इस कारण हम उसी समय का सबसे ज़्यादा स्वागत करेंगे, जब यहाँ की स्त्रियाँ स्त्रियोचित गुणों में पूर्ण विकास करके आज़ादी हासिल करेंगी।......यूरोप को अब पौरुषीय सभ्यता की बिलकुल ज़रूरत नहीं है। वह युद्ध, राजनैतिक घात-प्रतिघात और संकीर्ण जातीयता से बहुत घबरा गया है। अब वह पूर्ण शक्ति, जो केवल स्त्रियोचित गुणों के विकास से ही प्राप्त होसकती है, चाहता है।"

देश या समाज के सभी अंगों के शासन में भाग लेने का एक बड़ा भारी परिणाम यह होता है कि सभी में राष्ट्रीय या सामाजिक संगठन के प्रति अपनापन पैदा होजाता है। सब सरकार के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी समझते हैं और उसका काम ठीक तरह से चलाने के लिए ज़्यादा-से-ज़्यादा सहयोग देते हैं। हिन्दुस्तान में मताधिकार की योग्यता बहुत ऊँची रक्खी गई है। इस कारण बहुत कम लोग देश के शासन में भाग ले सकते हैं। प्रान्तीय असेम्बलियों में मतदाताओं का अनुपात १५ फी सदी है। म्यूनिसिपल कमेटियों और ज़िला बोर्डों तक में सामाजिक योग्यता को आधार माना गया है। दिल्ली म्यूनिसिपल कमेटी में ३६) रु० सालाना से कम किराया देनेवाला वोट देने का हक़दार नहीं हो सकता। कितना अंधेर है! अपने नगर तक के इन्तज़ाम में लाखों दिल्ली-निवासियों का कोई हाथ नहीं।

बालिग-मताधिकार के सिलसिले में तुम एक सवाल कर सकते हो, कि क्या इसका दुरुपयोग नहीं हो सकता? हाँ, क्यों नहीं? आज-

कल के जो चुनाव हो रहे हैं, उनकी असलियत से तुम भी अपरिचित नहीं हो। पार्टीबन्दी, झूठे प्रचार और रुपये के ज़ोर से चुनाव के परिणाम तक बदले जा सकते हैं। १९२५ में इंग्लैंड के अनुदारदल ने जिनोवीफ़ का झूठा पत्र[1] छापकर ही मज़दूर दल को हराया था। स्थानीय म्यूनिसिपल चुनावों में रुपये के ज़ोर से कितने नालायक और स्वार्थी आदमी हमारे 'नगरपिता' बन जाते हैं, यह भी तुमसे छिपा नहीं है। तुम कह सकते हो कि यह बालिग-मताधिकार का परिणाम है। नहीं, ये सब बातें वहाँ होती हैं, जहाँ जनता नागरिक अधिकारों के साथ-साथ नागरिक कर्तव्यों की चिन्ता नहीं करती।

सभी जगहों और सभी मौक़ों पर प्रजातन्त्र का—जनता का प्रबन्ध आदि में भाग लेने का सिद्धान्त लागू नहीं किया जा सकता। कुछ ऐसे नाजुक मौक़े आते हैं, जब प्रजातन्त्र या बालिग-मताधिकार ताक पर रख देना पड़ता है, युद्ध के समान सेना की सारी बागडोर प्रधान सेनापति के हाथ में सौंप देनी पड़ती है। वहाँ अलग-अलग सैनिक की सलाह लेना ख़तरनाक होता है। इटली, जर्मनी, टर्की आदि देशों में वहाँके तानाशाहों ने ही सारे अधिकार अपने हाथों में लेकर अपने-अपने देशों को कहीं-से-कहीं पहुँचा दिया। हमारी कांग्रेस ने भी १९३० और १९३२ में सत्याग्रह-संग्राम में डिक्टेटर-शिप की प्रथा को मंजूर किया था और इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रों

१. अनुदार पार्टी ने प्रसिद्ध रूसी अधिकारी जिनोवीफ़ का ब्रिटेन-स्थित रूसियों के नाम इस आशय का एक कल्पित पत्र प्रकाशित किया था कि आप रूसियों को शाबास है कि ब्रिटेन की मजदूरपार्टी के साथ मिलकर ब्रिटेन में राजतंत्र की समाप्ति और सोवियट की स्थापना के षड़यंत्र में लगे हो। इसका प्रभाव यह हुआ कि मजदूर दल हार गया।

की सफलता का श्रेय इस डिक्टेटरशिप को भी दिया जाना चाहिए।

पर ये सब अपवाद हैं। इनसे यह साबित नहीं होता कि नागरिकों का अपने गाँव, नगर या देश के शासन में कोई भाग नहीं है या उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व नष्ट होगया है। हाँ, नाबालिग, पागल और विदेशी लोगों को यह अधिकार नहीं दिया जाता, क्योंकि जहाँ नाबालिग और पागल देश की समस्या नहीं समझ सकते, वहाँ विदेशी कभी देश के हित और अपने हित को एक नहीं कर सकते। उनकी दृष्टि अपने देश के हित पर ही जायगी। उनके सम्बन्ध में जुदे-जुदे देशों में जुदे-जुदे नियम हैं। रूस और टर्की में १६ साल की उम्र में मताधिकार है तो जर्मनी और स्वीज़रलैण्ड में २०, अमेरिका व ब्रिटेन में २१, नार्वे में २३ और डैनमार्क व जापान में २५ साल की उम्र में यह अधिकार प्राप्त है।

मताधिकार की तह में एक असूल काम करता है, और वह यह कि जनता अपना शासन स्वयं कर सके। प्रजातन्त्र या प्रतिनिधितन्त्र में ये चार बातें दीखती हैं—(१) कानून बनाने में प्रतिनिधियों की सम्मति ली जाती है; (२) उनकी सम्मति के बिना कर के रूप में एक भी पाई न वसूल की जाती है और न खर्च की जाती है; (३) राज्य-प्रबन्ध करनेवाले मंत्री भी इन्हीं में से चुने जाते हैं और (४) प्रतिनिधि समय-समय पर सरकार के कामों की आलोचना करते हैं। मताधिकार इन्हीं बातों का एक लक्षण मात्र है। शासन के सभी विभागों में जनता का खुला प्रवेश होना चाहिए। सरकारी नौकरियों के पद सभी जातियों, सभी धर्मों और सभी वर्णों के लोगों के लिए बिना किसी भेदभाव के खुले रहने चाहिएँ, जिन्हें परीक्षा या किसी अन्य कसौटी द्वारा अपनी योग्यता सिद्ध करके वे प्राप्त कर सकें।

भारत में बहुत-से पद गोरे लोगों के लिए सुरक्षित हैं। यह नागरिक अधिकारों के सिद्धान्त के विरुद्ध है। बहुत-से पदों पर हरिजनों, मुसलमानों या हिन्दुओं को उनकी जाति या धर्म के नाते रक्खा जाता है, न कि योग्यता के आधार पर। यह ठीक नहीं है। साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रतिनिधि-सभाओं की जगहों या नौकरियों का बंटवारा बहुत अराष्ट्रीय और नुक्सानदेह है। इसकी सबसे बड़ी हानि यह है कि देश में अपने-अपने सम्प्रदाय और जाति के हित को देश के हित से ऊपर समझने की ख़तरनाक प्रवृत्ति पैदा हो जाती है।

मत लेने के सम्बन्ध में एक बात और। मत हमेशा गुप्त रीति से लेने चाहिएँ। कोई उम्मीदवार किसीपर कोई नाजायज़ दबाव न डाल सके, इसका सबसे बढ़िया तरीक़ा पर्चियों द्वारा अकेले कमरे में वोट लेना है, जहाँ किसीको मालूम न हो कि वोट किसे दिया गया है। अनुचित दबाव के कारण दिया गया वोट कोई अर्थ ही नहीं रखता, क्योंकि इससे मताधिकार का प्रयोजन पूरा नहीं होता। मतदाताओं को यह निश्चय रहना चाहिए कि उनके अपनी मरज़ी के मुताबिक़ वोट देने से कोई ज़मींदार, मिलमालिक, सरकारी अफ़सर या कोई प्रभावशाली मनुष्य उन्हें सता न सकेगा।

मेरा यह पत्र आज काफ़ी लम्बा होगया, इसलिए इसे अब यहीं ख़तम करता हूँ। मैं जो कहना चाहता था, शायद सभी लिख दिया है। यह ठीक है कि इसमें अनेक ऐसे विवादास्पद विषय आ गये हैं, जिनपर विस्तार से विचार करने की ज़रूरत है; लेकिन नागरिक शास्त्र से उनका जितना सम्बन्ध था, उतना लिख ही दिया है।

: ७ :

धार्मिक स्वतन्त्रता

२०-६-३८

मैं जब कभी संसार के इतिहास की कोई पुस्तक पढ़ने लगता हूँ, तो मेरे दिल में कई तरह के विचार पैदा होते हैं। यह दुनिया सैकड़ों, हज़ारों और लाखों विचित्र और अद्भुत घटनाओं का रङ्ग-मंच है। ये घटनायें किसी एक देश में नहीं, बल्कि दुनिया के अलग-अलग भागों में—सभी कोनों में और सभी कालों में हुई हैं, लेकिन उनमें कितनी ही आश्चर्यजनक समानतायें भी हैं। उनमें से एक समानता यह है कि मनुष्य ने अपने धर्म को दूसरे पर लादने के लिए भीषण अत्याचार किया है। पिछले दो हज़ार बरसों का इतिहास पढ़ लो। भारत का, अरब या फारस का, फ्रांस, जर्मनी, रोम, इंग्लैण्ड या स्पेन का, सभी देशों का इतिहास इस बात का साक्षी है। कुछ ऐतिहासिकों का अनुमान है कि राजनैतिक या आर्थिक युद्धों में इतने मनुष्यों का नाश नहीं हुआ, जितना धर्म के नाम पर—उस धर्म के नाम पर, जो दुनिया को शान्ति और कल्याण का उपदेश देता है—हुआ है। ऐसे भी विद्वान् हैं, जो सभी ऐतिहासिक घटनाओं की आर्थिक व्याख्या करते हुए उसके मूल में आर्थिक कारण खोजते हैं, लेकिन वे भी धर्म के महत्त्वपूर्ण स्थान को कम नहीं कर सके। बौद्धों और हिन्दुओं के अत्याचारों की बात शायद लोग भूल गये हों, लेकिन हिन्दुस्तान में मुसलमानों ने हिन्दुओं पर जितने अत्याचार किये हैं, उन्हें तो हरेक पढ़ा-लिखा भारतीय जानता है। लाखों हिन्दू

मुसलमान बना लिये गये, और हज़ारों मन्दिर भूमिसात् कर दिये गये। लेकिन इससे ज़्यादा अत्याचार मुसलमानों ने यूरोप में किये। यूरोपियन ईसाइयों के अत्याचार तो अन्य सब धर्मों के अत्याचारों को मात कर देते हैं। पोप ने जिस 'इन्क्विज़िशन' की भीषण प्रथा का आविष्कार किया था, उसका इतिहास आज भी उतना ही रोमांचकारी दीखता है। हज़ारों और लाखों आदमी महज़ इसलिए ज़िन्दा जला दिये जाते थे कि वे चर्च के धार्मिक सिद्धान्तों को हूबहू नहीं मानते थे। फ्रांस की स्वतन्त्रता की देवी 'जीन द आर्क' तक इसी धर्म के नाम पर ज़िन्दा जला दी गई थी। ग्रीस के महात्मा सुकरात को, जो जोन स्टुअर्ट मिल के शब्दों में "सबसे अधिक नीतिवान् और धर्मात्मा था, जो अपने बाद होनेवाले सभी पुरुषों के लिए एक आदर्शरूप था, जिसकी विमल कीर्ति अबतक बराबर बढ़ती ही जाती है, उसी विश्ववन्द्य और पवित्र अन्तःकरण वाले पुरुष" को, अधार्मिकता के नाम पर ज़हर का प्याला दिया गया। उसका एकमात्र अपराध यह था कि सारा देश जिन देवताओं की पूजा करता था, उनपर उसका विश्वास न था। संसार को शान्ति देनेवाले हज़रत ईसा तक धर्म के नाम पर सूली पर लटका दिये गये थे। धर्म के नाम पर संसार में जो अत्याचार और हत्याकाण्ड हुए हैं, वे दिल दहला देने वाले हैं। लेकिन इससे भी बड़ी हैरानी की बात यह है कि यह सारी हिंसा और सारा अत्याचार ईमानदारी के साथ किया गया था, किसी ज़ाती फ़ायदे के लिए नहीं। ये सारे रोमांचकारी कृत्य इस दृढ़ विश्वास से किये जाते थे कि हम पुण्य का काम कर रहे हैं, और जिस आदमी को ज़िन्दा जला रहे हैं, उसके पाप नष्ट कर रहे हैं और उसकी आत्मा को बचा रहे हैं। और दरअसल देखा जाय तो जिन

लोगों ने ऐसे-ऐसे अत्याचार किये, वे व्यक्तिगत रूप से अत्याचारी भी न थे। साधारण मनुष्यों से किसी कदर अच्छे ही थे, धर्म और नीति का ज्ञान भी उन्हें पर्याप्त था। तब इस प्रकार की घटनाओं का क्या कारण है ?

इसका कारण लोगों का वह अभिमानपूर्ण अन्धविश्वास है, जिसकी वजह से वे अपना व अपने धर्म का तनिक भी विरोध नहीं सह सकते। दुनिया में इस प्रकार के जितने भी पाप, हत्या व ख़ून-ख़च्चर हुए हैं, वे किसी ख़ास आदमी की क्रूरता या दुष्टता के परिणाम नहीं हैं, बल्कि एक भयंकर सिद्धान्त के परिणाम हैं। इसके दोषी उस समय के सिद्धान्त नहीं हैं, बल्कि वही विश्वास है जो उस समय भी प्रचलित था और आज भी प्रचलित है। यह विश्वास है मनुष्य का अपने धर्म व अपने विचार को सोलह आने सच मानना और दूसरे के धर्म व विचार को असत्य मानकर उसपर अपना धर्म लादने में परोपकार व धर्म समझना।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि धर्म को लेकर हरेक मनुष्य अपनेको पूरी सचाई पर मानने लगता है, यद्यपि जॉन स्टुअर्ट मिल के अनुसार "किसीका किसी धर्म को मानना बिलकुल आकस्मिक घटना है। आज एक आदमी ईसाई के घर पैदा होगया या मुसलमान या हिन्दू के घर तो वह उन-उन घरों में पैदा होने मात्र से ईसाई, मुसलमान या हिन्दू होगया। यदि वह मुसलमान के घर पैदा न होकर हिन्दू के घर पैदा होता, तो उसकी राय में कुरान झूठों का पुलिन्दा होता, पर अब वह कुरान को ही एकमात्र सत्यग्रन्थ मानकर उसे न माननेवालों के गले काटने पर उतारू है। इसी तरह एक मुसलमान भी अपनेको निर्भ्रान्त मानता है और एक ईसाई भी, लेकिन दोनों के धर्म

बिलकुल विपरीत हैं। दोनों ही एक-दूसरे के विचार, विवेचना, आलोचना तक़रीर या बहस बिलकुल ही बन्द करना चाहते हैं और इस तरह अपने को बिलकुल ठीक, सही और अपनी बुद्धि को बिलकुल अस्खलित मानने का दावा करते हैं।" आमतौर पर मनुष्य रोज़मर्रा के व्यवहार में निर्भ्रान्त होने का दावा नहीं करता, लेकिन धर्म और संस्कृति के संबंध में वह अपने देश, जाति या पन्थ को ही सत्य मानकर दूसरे देश, जाति या पन्थ की बात को एकदम ग़लत कह देता है। उसके मन में यह बात कभी नहीं आती कि किसी एक जाति या पन्थ के मत पर विश्वास करना सिर्फ़ एक आकस्मिक घटना है। अपने उस 'सीमित संसार' में पैदा होने या रहने के कारण ही वह उसकी सम्मति पर विश्वास करता है। वह अपने सीमित संसार की राय को सारी दुनिया की राय मानता है। वह यह नहीं सोचता कि जिन कारणों से लन्दन में वह ईसाई हुआ, उन्हीं कारणों से पेकिंग में वह बौद्ध या कन्फूशियन धर्म का अनुयायी होता।

एक बात और। एक आदमी से जैसे ग़लती हो सकती है, वसे ही एक युग, एक पुश्त या एक पीढ़ी से भी भूल हो सकती है। मिल कहता है कि "यह बात स्वयं सिद्ध है और आवश्यकता होने पर युक्तियों से सिद्ध भी की जा सकती है। हर युग या पुश्त के बहुत-से मत ऐसे थे, जो अगली पुश्त के लोगों को भ्रान्तिमूलक या भूठे ही नहीं, बल्कि असङ्गत, बुद्धि-विरुद्ध और अनर्थकारी मालूम हुए। इतिहास इस बात का साक्षी है, और यह भी सच है कि पहले ज़माने की बहुत-सी बातें जैसे इस समय कोई नहीं मानता, वैसे ही इस समय जो बहुत-सी बातें सबको मान्य हैं, वे आगे न मानी जायँगी।"

किसी ने बिलकुल ठीक कहा है :—

श्रुतयोऽपि भिन्नाः स्मृतयोऽपि भिन्नाः
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्था ।

श्रुति स्मृति सरीखे सभी धर्मशास्त्र परस्पर भिन्न-विचार प्रकट करते हैं। इसलिए एक भी मुनि ऐसा नहीं, जिसकी बात प्रमाण मानी जा सके। असल में धर्म का तत्त्व बहुत गहन है। साधारण मनुष्य को महापुरुषों के जीवन का ही अनुकरण करना चाहिए।

इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि हरेक आदमी अपने धर्म या संस्कृति को मानने में स्वतन्त्र रहे। किसीपर अपना धर्म या संस्कृति लादने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। जवाहरलाल नेहरू लिखते हैं—"सभ्यता और संस्कृति की परिभाषा मुश्किल है और मैं इसकी परिभाषा करने की कोशिश करूँगा भी नहीं। लेकिन संस्कृति के अन्दर पाई जानेवाली अनेक बातों में से निस्सन्देह एक चीज़ यह भी है—अपने ऊपर संयम और दूसरों की सुविधा का लिहाज़। अगर किसी आदमी में अपने अन्दर संयम नहीं पाया जाता और वह दूसरों की सुविधा का कोई ख़याल नहीं करता, तो हम यह निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि वह आदमी असभ्य और बदतमीज़ है।"

मनुष्य की सभ्यता यह है कि वह भले ही अपने धर्म पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रक्खे, लेकिन वह अपने धर्म को दूसरे के सिर पर ज़बरदस्ती थोपने की कोशिश न करे। प्रत्येक को अपने धर्म का प्रचार करने की स्वतन्त्रता रहे, किसीके प्रचार-मार्ग में बाधा न डाली जाय। तुम एक बार ख़याल तो करो कि यदि दूसरे का विचार सुनने पर बिलकुल ही पाबन्दी रहती तो भगवान बुद्ध अपने कल्याण-

कारी उपदेशों का प्रचार कैसे कर पाते? स्वामी दयानन्द को मुँह खोलने की आज्ञा न होती तो वह हिन्दुस्तान की भीषण बुराइयों को कैसे दूर करा सकते? स्व० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर कैसे विधवाविवाह के लिए आन्दोलन करके विधवाओं को भयंकर अत्याचारों से बचा पाते? यदि चालू विचारों के विरुद्ध आवाज़ न उठाने दी जाती तो चीन की नारी जाति पर सदियों से लोहे की जूती पहनने का जो यन्त्रणामय अत्याचार हो रहा था, उससे उसे कैसे मुक्ति मिलती? भारत में स्त्रियों और शूद्रों से पढ़ने का जो कुदरती अधिकार छीन लिया गया था, वह उन्हें कैसे हासिल होता? या कोई भी लाभकारी राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलन कैसे सफल होता?

: ८ :

भारत में धार्मिक स्वतंत्रता

२२-६-३८

प्रत्येक मनुष्य अपने धर्म व रीति-रिवाजों को मानने और उनका अपने साथियों या देशभाइयों में प्रचार करने में आज़ाद है—यह सचाई वैसे तो दुनिया के हरेक आदमी के लिए माननीय है, पर हिन्दुस्तान के लिए तो, जहाँ सैकड़ों मत-मतान्तर हैं और भिन्न-भिन्न परस्परविरोधी धर्म हैं, इस सत्य को समझने की और भी ज़्यादा ज़रूरत है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म मानने और उसका प्रचार करने का अधिकार है। प्रत्येक सरकार का फ़र्ज़ है कि वह अपनी प्रजा के इस अधिकार की रक्षा करे। किसी ख़ास धर्म को मानने के कारण किसीको ख़ास अधिकार न दिया जाय और न किसी धर्म-विशेष को मानने के कारण किसी से कोई अधिकार छीना जाय। मुसलमानों का हिन्दुओं पर जज़िया कर लगाना, यूरोप के जुदे-जुदे देशों में कैथलिकों या प्रोटेस्टेण्टों से विशेष पक्षपात या जर्मनी में यहूदियों के नागरिक अधिकार छीनना आदि मनुष्य के झूठे अभिमान के उदाहरण हैं। यहाँ मनुष्य अपनेको या अपने धर्म को बिलकुल सच्चा मान लेता है। आज भी भारत में धार्मिक असहिष्णुता के उदाहरणों की कमी नहीं है। हिन्दू मुसलमानों पर यह ज़ोर डालते हैं कि वे गोवध न करें, पीपल न काटें और मुसलमान उनपर बाजा न बजाने की ज़बरदस्ती करते हैं। यह सब क्या है, दूसरे की धार्मिक स्वाधीनता छीनना ही तो है। सरकार का फ़र्ज़ है कि वह सब धर्मों

या जातियों के धार्मिक समारोह मनाने के अधिकार की रक्षा करे।

भारतवर्ष की समस्या केवल जुदा-जुदा धर्मों तक ही सीमित नहीं है। वैदिक या प्राचीन काल में, जैसा कि मैं पहले कह आया हूँ, समाज का संगठन समाज के हित को ध्यान में रखकर किया गया था। लेकिन पीछे एक समय आया, जबकि समाज व्यक्ति पर हावी हो गया। यह भारत का पतनकाल था। इस काल में यहाँ व्यक्तिगत स्वाधीनता इस बुरी तरह से कुचली गई कि समाज का बहुत बड़ा भाग व्यक्तिगत बातों में भी आज़ाद नहीं रह सका है। हिन्दू-समाज की रूढ़िप्रियता, अन्ध-विश्वास और अनुदारता के कारण ही जात-पाँत और छूत-छात के कठोर बंधन बनाये गये। अपने आप तो उच्च-वर्ण के पुरुष-समाज ने सब सुविधायें ले लीं, लेकिन दूसरे को वे सामाजिक स्वतंत्रतायें देने से इन्कार कर दिया। 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' में यही रहस्य है। स्त्रियों और दलितवर्ग को शिक्षा तक के अधिकार से वंचित कर दिया गया। कितना भीषण अनर्थ है! शूद्र यदि वेद के मंत्र सुन ले, तो उसके कानों में गरम तेल तक डालने का फ़तवा हमारे यहाँ दे डाला गया है। आज की इस बीसवीं सदी में भी भारत में मनुष्यों को किसी जाति में पैदा होने के कारण ही बहुत-से अधिकारों से वंचित किया जाता है। दलित व्यक्ति किसी उच्च-वर्ण कहलानेवाले को छू नहीं सकता, किसी सार्वजनिक मंदिर में जा नहीं सकता, और सार्वजनिक कुएँ पर पानी भर नहीं सकता, भले ही वह प्यासा तड़पता रहे। मदरास में तो छुआछूत का भाव बेहद बढ़ा हुआ है। वहाँ अछूतों को बहुत-सी सड़कों तक पर चलने का अधिकार नहीं है। अगर उनकी छाया भी किसी सवर्ण पर पड़ जाय तो उस अछूत बेचारे की तो आफ़त ही आजाती है। इतना ही नहीं,

वे आपस में व्यवहार करने में भी आज़ाद नहीं हैं। वे बहुत जगहों पर ऊन के कपड़े नहीं पहन सकते, सोने-चाँदी के गहने पहनना उनके लिए मना है, विवाह के अवसर पर वे घोड़े या हाथी पर नहीं चढ़ सकते, पालकियों में उनकी स्त्रियाँ नहीं बैठ सकतीं और वे अपने घरों में अपने मन मुताबिक पक्कान्न नहीं बना सकते। भारत के जुदे-जुदे प्रान्तों में इस प्रकार के कठोर बंधन निम्न वर्ण के मनुष्यों पर उच्च-वर्ण के लोगों ने लगा रक्खे हैं। समाज या राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य को सामाजिक दृष्टि से पूर्णतः स्वाधीन रहना चाहिए। सरकार का कर्तव्य है कि वह अपने प्रत्येक अंग के हितों की रक्षा करे। यदि समाज दलितों के एक भाग की उपेक्षा करता है, तो यह भी निश्चित है कि वह भाग भी समाज की परवा न करेगा और अगर उसे समाज के विरुद्ध क्रान्ति या बग़ावत करने का मौक़ा मिला तो वह इसमें भी नहीं चूकेगा। नागरिकों की सामाजिक स्वतन्त्रता का मतलब यह है कि वे अपनी मर्ज़ी के मुताबिक खान-पान, पहनना-ओढ़ना, रहन-सहन आदि रख सकें, अपने धार्मिक उत्सव समारोह से मना सकें, उनके विवाह-शादी, उनके बालकों की शिक्षा, खेल-कूद तथा स्वदेश या विदेश में जाने-आने में भी राज्य या समाज की ओर से कोई अनुचित बाधा न हो। जिन चीज़ों के बनाने या जिन संस्थाओं को चलाने के लिए राज्य आम रिआया द्वारा दिये गये करों से ख़र्च करता है, उनके उपयोग में किसीको कुछ बाधा न होनी चाहिए, चाहे वह किसी भी धर्म या मत को माननेवाला हो या किसी जाति में पैदा हुआ हो।

मैं अभी कुछ दिन हुए, पं० जवाहरलाल नेहरू की 'विश्व-इतिहास की झलक'[१] पढ़ रहा था। यह पुस्तक बहुत ही अच्छी और उपयोगी

१. सस्ता साहित्य मंडल से प्रकाशित—मूल्य ८)

है। मैं तुम्हें इसके पढ़ने की जोरों से सिफ़ारिश करूँगा। इससे तुम्हें बहुत-सी नई और उपयोगी बातें मालूम होंगी और दुनिया का सारा इतिहास तुम्हारी आँखों के आगे खड़ा हो जायगा। इस पुस्तक में जवाहरलालजी ने हिन्दू-धर्म की उदारता और प्रगतिशीलता के सम्बन्ध में एक बात बिलकुल ठीक लिखी है—"हिन्दू-धर्म और हिन्दू-शास्त्र कई बातों में परिवर्तनशील और प्रगतिशील थे, यह बात दूसरी है कि पिछली सदियों में उनकी प्रगति बहुत धीमी रही। स्वयं हिन्दू-शास्त्र एक तरह से प्रथा या रिवाज हैं और रिवाज हमेशा बदलते और तरक्की करते रहते हैं।" वस्तुतः हिन्दू स्मृतिकार कभी किसी बात पर इतने अधिक कट्टर नहीं रहे। उन्होंने हरेक नई उपयोगी और समयानुकूल बात को अपना लिया। यही कारण है कि अलग-अलग समयों में बनी हुई स्मृतियों में हम इतना अन्तर पाते हैं। भिन्न-भिन्न मत रखनेवाले आचार्य भी समान आदरबुद्धि से देखे गये हैं। ईश्वर से इन्कार करनेवाले कपिल तक मुनि माने गये हैं। भारतवर्ष में जो मत पैदा हुए, सभी हिन्दू-धर्म के उदार और विशाल शरीर के अंग बन गये। यहाँ तक कि बौद्ध-धर्म भी, जो हिन्दू-धर्म का विरोधी था, हिन्दू-धर्म का अंग बन गया और बुद्ध हिन्दुओं के अवतार बन गये। ऐतिहासिकों का ख़याल है कि यदि इस्लाम अपनी तलवार के साथ न आता, तो वह भी व्यापक हिन्दू-धर्म का एक अंग बन जाता। महमूद गज़नी के आक्रमण से पहले हिन्दू राजाओं ने इस्लाम की सहायता की, इसके कई उदाहरण मिलते हैं। पर हिन्दू-धर्म में कट्टरता कहाँसे आई, इसका भी सुन्दर विवेचन पं० जवाहरलाल करते हैं। वह लिखते हैं—"ब्रिटिश सरकार ने दोनों (हिन्दू और इस्लाम) धर्मों के कट्टरपन को बढ़ाने में जानबूझ कर

और अनजान में दोनों तरह सहायता दी।···वे धर्म के ऊपरी रूप की रक्षा और सहायता तक करने लगे।···कट्टर लोगों की नाराज़ी के डर से सरकार सुधारकों के ख़िलाफ़ कट्टर लोगों का पक्ष लेने लगी, इस तरह सुधार का काम रुक गया·····हिन्दूशास्त्र का परिस्थितियों के अनुकूल बन सकने का यह गुण ब्रिटिश राज्य के अन्दर गायब हो गया और उसकी जगह बड़े-से-बड़े कट्टरपन्थियों की सलाह से बनाये गये कठोर शास्त्रीय नियमों ने ले ली।" यह कट्टरता ही धार्मिक या सामाजिक असहिष्णुता का मूल है।

किसी राष्ट्र के नागरिकों को जहाँ अपना धर्म, अपनी संस्कृति, अपनी विचारधारा प्यारी होती है, वहाँ अपनी लिपि और अपनी भाषा से भी प्यार होता है। भाषा और लिपि किसी देश या जाति की संस्कृति का एक बड़ा अंग है और इनकी रक्षा का उसे पूरा अधिकार है। एक देश की लिपि और भाषा नष्ट कर दो, उसके अन्दर आत्माभिमान व देशभक्ति की भावना भी कम होजायगी। ज़्यादातर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीयों में संस्कृत या हिन्दी पढ़े हुओं की बनिस्बत भारतीय संस्कृति से कम प्रेम होना स्वाभाविक है। इसीलिए पराधीन राष्ट्र की लिपि व भाषा को नष्ट करने का प्रयत्न शासक लोग अवश्य करते हैं। भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा की मैकाले-योजना का उद्देश्य ही 'काले गोरे' पैदा करना था। सर जान वुडरफ़ के शब्दों में "जो लोग दूसरी भाषा (या लिपि) के लिए अपनी भाषा (या लिपि) को छोड़ देते हैं या ऐसा करने के लिए विवश किये जाते हैं, वे अपने अस्तित्व को नष्ट कर देते हैं।" राजकार्य में भी अपनी भाषा का प्रयोग करने का अधिकार होना चाहिए। भारत में प्रत्येक प्रान्त को अपनी प्रान्तीय भाषाओं को रक्षा का अधिकार है, लेकिन सार्वदेशिक

कार्य के लिए एक राष्ट्र-भाषा (आजकल सर्वसम्मति से हिन्दुस्तानी को यह पद मिल चुका है) नियत होनी चाहिए। उर्दू या हिन्दी के प्रश्न पर भी इसी दृष्टि से विचार करना चाहिए।

इस ऊपर लिखे विवेचन से तुम यह न समझ लेना कि प्रत्येक मनुष्य या समाज हरेक प्रकार का आचरण करने में स्वतंत्र है। प्रत्येक नियम में अपवाद होते हैं। व्यक्तिगत स्वाधीनता के सम्बन्ध में भी कुछ अपवाद हैं।

मैं पहले पत्रों में लिख चुका हूँ कि मनुष्य को वे सब अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ, जिनसे समाज की अवनति न हो। किसी की व्यक्तिगत स्वाधीनता की कसौटी भी जॉन स्टुअर्ट मिल के शब्दों में यह है—"दूसरों को किसी तरह की हानि न पहुँचाकर और अपने हित के लिए किये गये दूसरों के यत्न में बाधा न डालकर, जिस तरह हो, उस तरह, अपने स्वार्थ-साधन की आज़ादी का नाम स्वाधीनता है।"

प्रत्येक अपना धार्मिक समारोह मनावे, लेकिन उसका समारोह किसी दूसरे के अधिकार में बाधक न हो। मुसलमानों को गोवध का अधिकार तो है, लेकिन उन्हें यह अधिकार नहीं कि वे उसे सजाकर उन सार्वजनिक सड़कों या बाज़ारों से ले जावें, जहाँ रहनेवाली अधिकांश हिन्दू आबादी का दिल दुःखे। इसी तरह किसी का यह अधिकार नहीं कि वह अपने धर्म के नाम पर अछूतों और दलितों को उनके सार्वजनिक अधिकारों से वंचित करे। किसी मत में नरबलि का विधान है, तो उसे भी वैसा करने की आज्ञा नहीं दी जा सकती। यदि किसी सम्प्रदाय में ब्रह्मचर्य को महत्त्व नहीं दिया जाता, तो भी उसे व्यभिचार की—वाममार्ग की तान्त्रिक विधियों की आज्ञा नहीं दी जा सकती। आजकल यूरोप में चलने वाले नग्नतावाद का मैं इसी-

लिए विरोधी हूँ कि इससे समाज में अनाचार बढ़ने की संभावना बहुत बढ़ जाती है। व्यक्तिगत स्वाधीनता पर भी इसी नुक्तेनिगाह से कुछ पाबन्दियाँ लगाई जाती हैं। एक व्यक्ति कहता है कि मैं अपनी सन्तान को शिक्षा नहीं दूँगा; दूसरा मनुष्य कहता है कि मैं ५० साल का हूँ, तो क्या हुआ, मैं १० साल की लड़की से विवाह करूँगा; तीसरा आदमी सफ़ाई के नियमों को मानने से मैं इन्कार करता है और चौथा वेश्यागमन की छूट चाहता है। उपर्युक्त चारों मनुष्य व्यक्तिगत स्वाधीनता की दुहाई देते हैं। इनको रोकनें से इनकी व्यक्तिगत स्वाधीनता में चोट भी ज़रूर लगती है, लेकिन फिर भी समाज को इन सब पर बंधन तो लगाने पड़ेंगे, क्योंकि इस प्रकार की स्वाधीनता से समाज की और उस व्यक्ति की स्थायी हानि होती है। समाज में शिक्षा का प्रचार ज़रूरी है, अशिक्षा समाज के धरातल को नीचे ले जाती है। वृद्ध-विवाह एक कन्या पर बलात्कार है, इससे उस कन्या का जीवन नष्ट होजाता है। सफ़ाई के नियम न मानने से न केवल नियम तोड़ने वाला बीमार हो सकता है, परन्तु आस-पास भी रोग फैलने का अन्देशा है। वेश्या गमन या शराब भी समाज में बुराइयों को फैलाते हैं—समाज का नैतिक पतन करते हैं। इसलिए इन सब पर पाबन्दी लगनी चाहिए। समाज सुधार के क़ानून भी समाज के स्थायी और व्यापक हित को लक्ष्य में रखकर ही बनाये जाते हैं।

जॉन स्टुअर्ट मिल का एक उद्धरण देकर इस पत्र को समाप्त करूँगा—"यदि कोई आदमी ऐसा काम करता है, जिससे दूसरों को तकलीफ़ होती है, तो उसे क़ानून के द्वारा सज़ा देना उचित मालूम होता है। ऐसी भी बहुत-सी बातें हैं, जिनसे समाज के हित की विशेष

संभावना रहती है। वे भी हरेक आदमी से ज़बरन कराई जा सकती हैं। अदालत में जज के सामने गवाही देने के लिए हरेक आदमी मजबूर किया जा सकता है, क्योंकि जिस समाज में वह आराम से रहता है; उसके हित या उसकी रक्षा के लिए सहायता करना उसका धर्म है।···किसी की जान बचाने या असहायों पर जुल्म होते देख-कर उनकी रक्षा करने के लिए बल-प्रयोग करना उचित है।···जो आदमी दूसरे को लाठी से मारकर उसे चोट पहुँचाता है, वह भी सज़ा पाने का काम करता है और जो दूसरे को डूबता देखकर उसे बचाने की कोशिश न करके चुपचाप तमाशा देखता रहता है, वह भी सजा पाने का काम करता है।"

मिल ने 'लिबर्टी' के पाँचवें अध्याय में दो सिद्धान्तों का ज़िक्र किया है:—(१) आदमी के जिस काम से उसे छोड़ और किसी का सम्बन्ध नहीं है, उसके लिए वह समाज के सामने जवाबदेह नहीं है। (२) जिन बातों से दूसरों का सम्बन्ध है, उनके लिए हर आदमी समाज के सामने जवाबदेह है। (इसी सिद्धान्त के अनुसार सभी देशों में दण्ड व्यवस्था लागू होती है।)

: ९ :

लिखने और बोलने की स्वतन्त्रता

२५-६-३८

तुमने अखबार में पढ़ा होगा कि कुछ दिन हुए इंग्लैण्ड में एक छोटी-सी घटना होगई थी। हाउस आफ़ कामन्स के एक सदस्य मि० सैण्डीज़ ने पार्लमेण्ट में कुछ सवाल पूछे थे। उन सवालों से मालूम होता था कि सेना के कुछ गुप्त भेद उन्हें मालूम हैं। इसपर सैनिक अधिकारियों ने उनसे जवाब तलब किया कि उन्हें ये समाचार कैसे मालूम हुए। और उन्हें सैनिक अदालत में उपस्थित होने को कहा गया। इसपर पार्लमेण्ट के सदस्यों ने बड़ा हल्ला मचाया। उनका कहना था कि प्रजा के प्रतिनिधियों को अधिकार है कि वे देशहित के सम्बन्ध में प्रत्येक विषय पर जानकारी रक्खें और अधिकारियों से सवाल करें। कुछ सोच-विचार कर सैनिक अधिकारियों ने सैनिक अदालत में हाज़िर होने की आज्ञा वापस लेली, पर पार्लमेण्ट ने सदस्यों के अधिकार पर विचार करने के लिए एक सब-कमेटी नियत करदी है। यह कमेटी क्या निर्णय करेगी, यह तो अभी से नहीं कहा जा-सकता, लेकिन इससे यह तो साफ़ है कि ब्रिटिश-जनता अपने अधिकारों के बारे में, जिन्हें उसने बड़ी मुश्किलों से प्राप्त किया है, कितनी अधिक सतर्क है। वहाँ के नागरिकों को देश के शासन के सम्बन्ध में जो अधिकार मिले हैं, वे उन्हें अपने प्राण से भी प्यारे हैं। यदि नागरिकों के प्रतिनिधि इन अधिकारों को छोड़ देते, तो ग़लती करते। सरकार न जाने कब कौन-सा अधिकार किस तरह

चुपचाप जनता से छीनले, यह हमेशा ख़याल में रखना पड़ता है। अपने अधिकार के सम्बन्ध में इतनी सतर्कता सीखने में हम भारतीयों को, जो 'कोऊ नृप होय, हमें का हानी' का सिद्धान्त मानते हैं, काफ़ी समय लगेगा। अस्तु।

पिछले पत्रों में मैं नागरिक की शारीरिक, सामाजिक और धार्मिक स्वतन्त्रताओं पर प्रकाश डालते हुए यह भी बता चुका हूँ कि हरेक नागरिक को शासन के सम्बन्ध में भाग लेने का अधिकार है। और इसके लिए उसे मताधिकार मिलना चाहिए। इतना लिखने के बाद मुझे अब अधिकारों के सम्बन्ध में बहुत कहने की ज़रूरत नहीं रही। फिर भी अधिकारों की चर्चा में दो-तीन ज़रूरी बातों पर अलग-अलग चर्चा कर लेना ज़रूरी है, हालाँकि वे पहले लिखी सब बातों के अन्तर्गत आजाती हैं।

राजनैतिक अधिकारों की चर्चा के सिलसिले में यह बात साफ़ कर चुका हूँ कि प्रत्येक नागरिक का अपने गाँव, नगर और देश के शासन में भाग लेने का पूरा अधिकार है। सामाजिक अधिकारों की चर्चा में मैंने यह बताने की कोशिश की थी कि किसी मनुष्य, जाति या समूह को अपने को निर्भ्रान्त नहीं मान लेना चाहिए। इन दोनों सिद्धान्तों को मान लेने के बाद नागरिकों के भाषण, लेखन और संगठन की स्वतन्त्रता पर ज़्यादा लिखने की ज़रूरत नहीं रह जाती। एक मनुष्य निर्भ्रान्त नहीं है, इसलिए प्रत्येक ऐसे नागरिक को, जो राष्ट्र का अंग है, अपने विचार ज़ाहिर करने की आज़ादी होनी चाहिए। विचार-विनिमय से मनुष्य को अपनी भूल मालूम होती है और वह अपनी विचारधारा या कार्य-पद्धति में ज़रूरी तबदीली कर लेता है।

हम अपने विचार दो प्रकार से प्रकट कर सकते हैं—(१) भाषण या बातचीत करके, और (२) लिखकर। यदि विचार प्रकट करने की आज़ादी न हो, शासन-नीति और सरकारी कार्यों की आलोचना करने का अधिकार न हो, तो शासन में भाग लेने के अधिकार का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। शासन में जनता का अधिकार तभी कारगर रह सकता है, जबकि जनता को या जनता के प्रतिनिधियों को लिखने-बोलने की पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त हो। आलोचना का अधिकार न होने से सरकार को अपनी ग़लतियों का पता नहीं लग सकता। ग़लतियों का पता न लगने से कोई सरकार अपने शासन को और अधिक अच्छा नहीं कर सकती। इसलिए प्रतिनिधितंत्र देशों में पार्टीबन्दी का स्वागत किया जाता है। बहुमतवाला पक्ष अपनी सरकार बनाता है तो अल्पमत उसका विरोध करता है। अल्पमत या विरोधीदल का किसी देश की राजनीति में कम महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं होता। प्रत्येक देश में विरोधी नेताओं का काफ़ी सम्मान होता है। वस्तुतः विरोधी दल के नेता का भी किसी देश की शासन-नीति निर्धारित करने में कम भाग नहीं होता, क्योंकि सरकार को हमेशा उसकी तीव्र आलोचना से भय खाना पड़ता है। इंग्लैण्ड में तो, जिसे पार्लमेण्ट-पद्धति का जनक कहा जाता है, एक-दो साल से विरोधी नेता के महत्त्व को इतना अधिक माना जाने लगा है कि इसी कार्य के लिए उसे सरकारी ख़जाने से वेतन मिलता है। वस्तुतः विरोधी दल सरकार को मनमानी पर नियन्त्रण रखता है, जनता के अधिकारों की रक्षा करता है और सरकार को ठीक दिशा बतलाता है। जब किसी सवाल पर सरकार लोकमत के ख़िलाफ़ कार्य करती है, तो वह सरकार में अविश्वास का प्रस्ताव पेश करता है। यदि

सचमुच जनमत उसके साथ हुआ, तो सरकार को स्तीफ़ा देना पड़ता है और फिर नया चुनाव होता है। इस तरह किसी देश की जनता अपने देश की नीति के निर्धारण में पूरा भाग लेती है। यह सब कार्य बिना विचार-स्वातंत्र्य के नहीं होसकता।

केवल असेम्बली या पार्लमेण्ट में ही नहीं, साधारणतः देश में हरेक राजनैतिक पार्टी को संगठन करने और अपने विचारों का प्रचार करने की भी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। प्रत्येक नागरिक अपने विचार सभाओं में प्रकट कर सके और अखबारों में प्रकाशित कर सके। भाषण या अख़बार द्वारा सरकार की कड़ी-से-कड़ी आलोचना करने पर भी सरकार की ओर से कोई पाबन्दी नहीं लगाई जानी चाहिए। सभाओं या अख़बारों की आलोचना से ही सरकार को लोकमत का ज्ञान होसकता है। मैं पहले लिख चुका हूँ कि अल्पसंख्यक जातियों को भी विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए, उसी तरह अल्पमत के राजनैतिक दलों को भी अपने विचार प्रकट करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। आज अमुक राजनैतिक दल के विचार दस-बीस या दो-चार सौ व्यक्तियों तक सीमित हैं, इसे लोकमत तो माना नहीं जा सकता, या इसके विचार अत्यन्त क्रांतिकारी हैं, इसे क्यों प्रचार की आज्ञा दी जाय? यह दलील भी ठीक नहीं है। आज जिस विचार को दस-बीस लोग मानते हैं, सम्भव है कल उसे ही देश का बहुमत मानने लगे। आजकल जुदे-जुदे देशों में जितने शक्तिशाली राजनैतिक दल हैं, वे कभी दो-चार या दस-बीस लोगों से ही शुरू हुए थे। इंग्लैण्ड का मज़दूरदल कभी बिलकुल ही छोटी संख्या में था, लेकिन समय आया कि दो-तीन वार उसके हाथ में इंग्लैण्ड की सरकार आगई। कभी लिबरल-दल का देश में बोल-

वाला था, लेकिन समय ने पलटा खाया और आज उसकी कोई पूछ नहीं है। इसलिए किसी भी राजनैतिक दल पर, चाहे वह कितना छोटे-से-छोटा क्यों न हो, किसी प्रकार की पाबन्दी लगाना अनुचित है।

विचार स्वतंत्रता के लिए सभाओं के संगठन की भी स्वतन्त्रता आवश्यक है। सार्वजनिक सभाओं के संगठन पर किसी प्रकार की रोक लगाना अनुचित है। प्रत्येक व्यक्ति को एक या अधिक आदमियों के साथ मिलकर बैठने या बातचीत करने का अधिकार है। मैज़िनी ने एक जगह लिखा है कि "एक परमात्मा की सन्तान होने से तुम सब भाई-भाई हो और क्या भाई-भाई के परस्पर मिलने-बैठने—सभा-सम्मेलन करने में बाधा डालना गुनाह नहीं है?" लेकिन इस स्थिति का मुकाबिला तुम अपने भारतवर्ष से तो करो। लार्ड विलिंगडन के शासन में, जिसे आर्डिनेन्स राज भी कहा जाता है, भारतीय जनता के कितने नागरिक अधिकारों पर कुल्हाड़ा चला था? अख़बारों पर आर्डिनेन्स की नंगी तलवार हमेशा लटकती थी। हिन्दुस्तान में एक भी राष्ट्रीय पत्र ऐसा न था, जिससे हज़ारों की जमानत न माँगी गई हो। जिन अख़बारों की ज़मानतें ज़ब्त की गई हैं, वे भी ४०-५० हज़ार से कम न होंगी। बहुत-से अखबारों ने तो सम्पादकीय लेख ही लिखना छोड़ दिया था। सभाओं पर, जलूसों पर या व्यक्तियों पर १४४ धारा व आर्डिनेन्स का बराबर प्रहार रहता था। अब चूंकि समय बदल गया है; भारत के सात प्रान्तों में नये विधान के अनुसार काँग्रेस ने पदग्रहण कर लिया है, जिसके फलस्वरूप लोगों को बोलने और लिखने की स्वतन्त्रता देदी गई है, लेकिन भारत के बहुत-से भागों में—उन प्रान्तों में जहाँ ग़ैरकाँग्रेसी राज्य है और देसी रियासतों में—यही आर्डीनेन्स राज्य जारी है। जनता के लेखन, भाषण और

संगठन पर हर तरह की पाबन्दी है। भारत की राजधानी दिल्ली तक में सब पाबन्दियाँ पहले की तरह ही मौजूद हैं। कई रियासतों में तो कोई नया अख़बार नहीं निकल सकता। किसी-किसी रियासत में बिना लाइसैन्स के टाइप-राइटर तक रखने का अधिकार नहीं है। राजनैतिक अख़बार ही नहीं, सामाजिक अख़बार तक बिना आज्ञा नहीं निकाले जासकते। प्रजा के चुने हुए प्रतिनिधियों की असेम्बली आदि की तो बात ही दूर है। राजनैतिक संगठन ही नहीं, दूसरे भी सब प्रकार के निर्दोष धार्मिक, जातीय, व्यापारिक, साहित्यिक संगठन करने का अधिकार नागरिकों को होना चाहिए। सिर्फ़ इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि ये सब संगठन किसी दूसरे को नुक्सान न पहुँचावें।

विचार-स्वातंत्र्य पर पाबन्दी लगाने के प्रश्न में यह ख़ास दलील दी जाती है कि कुछ व्यक्ति जो आदत से उद्दण्ड और शरारती होते हैं, उन्हें अपनी शक्ति का दुरुपयोग न करने देने के लिए या समाज में शांति और सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए सार्वजनिक भाषण या लेखन पर पाबन्दी रखना ज़रूरी है। यह हम मान लेते हैं कि समाज में ऐसे भी आदमी होते हैं, पर थोड़े से लोगों के अपराध के लिए साधारण जनता के नागरिक अधिकारों को कुचलना तो किसी भी हालत में उचित नहीं है। ऐसे उद्दण्ड व्यक्तियों पर सरकार मुक़दमे चला सकती है या उनका दमन कर सकती है। डाक्टर मरे ने एक जगह कहा है कि "किसी नैतिक सिद्धान्त का यह कहकर खण्डन नहीं किया जासकता कि लापरवाह लोग इसका दुरुपयोग करते हैं। विचार-स्वतंत्रता पर रोक लगा देने से बहुत हानि होती है। सबसे बड़ी हानि तो यही कि राज्य नागरिकों के विचार और अनुभव का लाभ नहीं उठा सकता। जब आदमियों को खुले आम

अपने विचार प्रकट करने से रोका जाता है, तो वे प्रायः चोरी से लुकछिप कर जहाँ-तहाँ बातें करते हैं, अखबारें वा पुस्तकें छापते या बेचते हैं। इस लुकाछिपी से नागरिकों में भय का भी संचार होता है, जो उनके चरित्र के पतन में सहायक होता है। दूसरे इस दमन-नीति से प्रजा में असंतोष भी बढ़ता है और यह राज्य के लिए अच्छा नहीं होता। इंजिन के बायलर से निकलनेवाली भाफ़ के बाहर जाने के मार्ग को बन्द कर देने से उसके फटने का हमेशा अन्देशा रहता है। विचारस्वातंत्र्य को रोकने का भी नतीजा अक्सर यह होता है कि जनता में असंतोष की अग्नि फूट पड़ती है। संसार में प्रजा की ओर से जितनी क्रान्तियाँ हुई हैं, ज्यादातर प्रजा के अधिकारों को और उनके वैध आन्दोलन को दबाने के परिणाम-स्वरूप ही हुई हैं। इसलिए यह ज़रूरी है कि नागरिकों की गतिविधि पर अनुचित बंधन कभी न लगाये जाने चाहिएँ।

यहाँ वेद के दो मंत्र लिख देना अप्रासांगिक न होगा। वेद-मंत्र लिखने या प्राचीन शास्त्रों से प्रमाण देने की मेरी आदत नहीं है। मैं समझता हूँ कि अब हमें शास्त्रके प्रमाणों पर आश्रित रहना छोड़कर हरेक विषय पर स्वतंत्र दृष्टिकोण से ही विचार करना चाहिए। पर मैं ये मंत्र इसलिए नीचे दे रहा हूँ कि इससे प्राचीन भारत का इस सम्बन्ध में दृष्टिकोण मालूम होजाय। वे दो मंत्र निम्नलिखित हैं :—

> नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे। मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम् ॥ १ ॥
>
> अक्षद्रुग्धो राजन्यः, पाप आत्मपराजितः। स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि माश्वः ॥ २ ॥ अथर्व अ० ४, सूक्त १८

कितने थोड़े से शब्दों में राजनीति के एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का

विवेचन कर दिया गया है। ब्राह्मण की वाणी इसलिए नहीं है कि राजन्य, क्षत्रिय या सरकार उसे खाजाय, दबादे। जो आत्म पराजित (लोकमत को दबानेवाला वस्तुतः अपने पराजय को स्वीकार करके ही दूसरों को बोलने नहीं देता) ब्राह्मण की गौ को—लोकमत को दबाता है, वह भले ही आज अपने को सफल मान ले, लेकिन उसकी यह सफलता स्थायी नहीं होगी। दमननीति अन्त में कभी सफल नहीं होती।

जहाँ राजनैतिक विचार प्रकट करने की आज़ादी आवश्यक है, वहाँ उसकी एक मर्यादा नियत करना भी उतना ही ज़रूरी है। मर्यादा का नियम भी वही है, जिसका हम पहले ज़िक्र कर आये हैं। वह नियम यह है कि विचार प्रकट करनेवाले की स्वतंत्रता किसी दूसरे की स्वतंत्रता में बाधक न हो या उसे हानि न पहुँचाये। विचार प्रकट करते हुए किसी को गाली-गलौज देना, किसी का दिल दुखाना या समाज के विचारों को कलुषित करना भी बुरा है। स्त्रियों की नंगी तस्वीरें, अश्लील विज्ञापन या लेख लिखना आदि पर प्रायः सभी देशों में थोड़े-बहुत बंधन लगाये जाते हैं। जातिगत कलह के भाषणों पर भी पूर्ण नियंत्रण लगाना ज़रूरी है। इसकी ज़रूरत तो हम भारतीय अच्छी तरह समझ सकते हैं। सभाओं पर पाबन्दी नहीं लगानी चाहिए, लेकिन जब किसी सभा में हिंसात्मक भाषण दिये जारहे हों, यह पूरा भय हो कि सभा का परिणाम दंगा होगा, तो ऐसी सभाओं को क़ानूनन रोका जासकता है। यदि कोई उत्तेजित मजमा किसी के विरुद्ध लूटमार करने, मकानों को आग लगाने या मरने-मारने के लिए तैयार दीखे, तो उसी समय उसे तितर-बितर कर देना ज़रूरी है, लेकिन यह ज़रूरी है कि ऐसा करने में यथासंभव कम-से-कम हानि पहुँचाने की सावधानी की जाय।

: १० :

आर्थिक स्वतंत्रता

२६-६-३८

इन दिनों के अख़बारों से तुम्हें कानपुर की हड़ताल का हाल मालूम होता रहता होगा। इन दिनों इस समस्या से युक्तप्रान्त की कांग्रेस सरकार को बहुत परेशानी रही। एक प्रसिद्ध व्यवसायी के कथनानुसार इस हड़ताल से देश को १८ करोड़ रुपयों का नुक़सान हुआ। व्यापार-व्यवसाय को कितना धक्का लगा, यह इसीसे मालूम होता है कि पोस्ट-आफिस को ही डाक व तार आदि में कमी के कारण ५००) रु० रोज़ का नुकसान हुआ। १९३७ की हड़तालों के बारे में भारत-सरकार ने जो रिपोर्ट प्रकाशित की है, उससे मालूम होता है कि पिछले साल हड़तालों से ८९,८२,००० दिन बेकार गये। बंगाल, बम्बई और युक्तप्रान्त में क्रमशः ६०,९०,८८३,१८,६७,२१० और ७,०४,९४० दिन ख़राब गये।

अक्सर पूंजीपतियों की ओर से यह प्रश्न किया जाता है कि मज़दूरों को क्या ऐसी भीषण हड़तालें करने का अधिकार भी है, जिनसे राष्ट्र को करोड़ों रुपयों का नुक़सान हो। इसी प्रश्न के साथ नागरिकों की आर्थिक स्वाधीनता का सवाल खड़ा होता है, जिसकी ओर मैं अपने पहले किसी पत्र में तुम्हारा ध्यान खींच चुका हूँ। मैं इस पत्र में इसी विषय पर कुछ विस्तार से विचार करना चाहता हूँ।

मैं पिछले पत्र में लिख चुका हूँ कि नागरिकों को जहाँ अपने

जीवन के अस्तित्व की गारंटी होनी चाहिए, वहाँ उन्हें अपनी सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी पूरी बेफ़िकरी होनी चाहिए। पर इससे भी पहले हरेक नागरिक को यह भी निश्चय होना चाहिए कि वह भूखों नहीं मरेगा। जहाँ राज्य नागरिकों की घातक रोगों, हिंस्र पशुओं, और लुटेरों से रक्षा की ज़िम्मेदारी लेता है, वहाँ उसे भूख और उसके कारणस्वरूप बेकारी से भी नागरिकों को बचाने की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेनी चाहिए। आज करोड़ों हिन्दुस्तानी भूखों पेट सोते हैं। भारतीय जनसंख्या विभाग के कई साल तक अध्यक्ष रहनेवाले सर विलियम हंटर की राय में भारत के ४ करोड़ लोगों को भर पेट भोजन कभी नहीं मिलता। आसाम के चीफ़ कमिश्नर सर चार्ल्स इलियट ने कहा था—"मुझे यह लिखने में ज़रा भी संकोच नहीं कि आधे से ज्यादा किसान वर्ष के एक सिरे से दूसरे सिरे तक यह भी नहीं जानते कि पेट-भर खाना किसे कहते हैं।" 'इण्डियन विटनेस' नामक ईसाइयों के एक अख़बार के अनुसार "१० करोड़ भारतीयों की सालाना आमदनी ५ शिलिंग (३॥ रुपये) से अधिक नहीं होती।" झाँसी डिविज़न के कमिश्नर की सम्मति में उस डिविज़न का एक भाग हमेशा आधा-पेट भोजन पाता है। वाइसराय की कौंसिल के कर-विभाग के अनुभवी सदस्य की जाँच के मुताबिक ४० फ़ीसदी किसान पेट-भर भोजन नहीं पाते। सरकारी अफ़सरों की ये कुछ सम्मतियाँ हैं। ऐसी सम्मतियाँ अगर एक जगह संग्रह करने लगूँ, तो एक पुस्तक ही तैयार होजाय। पर इसकी ज़रूरत नहीं। हाथ कंगन को आरसी क्या? तुम किसी भी गाँव में चले जाओ, ग़रीबी और भूख का यह ताण्डव बिना तलाश किये ही दीखने लगेगा। यह जीवन भी कोई जीवन है? इस ग़रीबी के कारणों की विवेचना में जाने की

यहाँ ज़रूरत नहीं। मेरा कहना तो यह है कि किसी ज़िम्मेदार सरकार का फ़र्ज़ है कि वह नागरिकों को रोटी की चिन्ता से भी निश्चिन्त करदे। जो व्यक्ति मेहनत से जी चुराता है, उसके लिए तो कोई ज़िम्मेदारी नहीं ले सकता, लेकिन जो नागरिक मेहनत करने को तैयार है, सरकार को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि उसे काम दे और भूखों न मरने दे। सिर्फ़ काम ही देने से यह मतलब हल नहीं होगा। सरकार का यह भी फ़र्ज़ है और दूसरे शब्दों में नागरिकों का यह अधिकार है कि उन्हें इतनी कम तनख्वाह न मिले कि जिससे उनकी ख़ास-ख़ास ज़रूरतें भी पूरी न हों। कई सभ्य और उन्नत देशों में सरकारों ने अपने इन कर्तव्यों की ज़िम्मेदारी समझ ली है और वे हरेक बेकार को या तो काम दिलाने की व्यवस्था करती हैं या फिर निर्वाह के लिए रुपया देती हैं। इंग्लैण्ड के हरेक बेकार मज़दूर को करीब ४०-५०) रु० हर माह दिया जाता है। दूसरे कई राष्ट्रों में भी बेकारों के लिए कुछ-न-कुछ नियम बने हुए हैं। कम-से-कम वेतन निश्चित करने के सिद्धान्त को भी कई सरकारों ने मंजूर किया है। इसके अनुसार किसी मालिक को तय की हुई रक़म से कम तनख्वाह देने का हक़ नहीं है।

जब एक नागरिक राष्ट्र और समाज की सेवा करता है, जब उसने भी समाज के अनेक बंधन मान लिये हैं, जब वह भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष करों द्वारा राष्ट्र के ख़जाने की पूर्ति में सहायक होता है, तब क्या समाज या राष्ट्र का यह फ़र्ज़ नहीं है कि वह उसकी जीवन-सम्बन्धी ज़रूरतों को पूरा करे? अगर राष्ट्र यह ज़िम्मेदारी नहीं लेता तो उसे भी नागरिकों से यह उम्मीद करने का क्या अधिकार है कि वे उसकी सेवा के लिए सदा तैयार रहेंगे? बीमारी या बुढ़ापे

में जब नागरिक कमाने योग्य नहीं रहता, तब भी सरकार का कर्तव्य है कि उसके खाने-कपड़े की व्यवस्था करे।

आर्थिक अधिकारों का उल्लेख करते हुए मैं पिछले किसी पत्र में लिख चुका हूँ कि प्रत्येक नागरिक को यह गारंटी होनी चाहिए कि उसकी पैदा की हुई सम्पत्ति नष्ट नहीं होगी और न उसे कोई छीन सकेगा, पर यह उपार्जित सम्पत्ति चोरी, डाके या धोखे से कमायी हुई न हो। साधारण अर्थों में हम जिसे चोरी या डाका कहते हैं, प्रायः प्रत्येक सरकार यह ख़याल रखती है कि इस तरह सम्पत्ति का उपार्जन करनेवाले को दण्ड दिया जाय। लेकिन कई विचारकों की राय में केवल किसी की ग़ैरहाज़िरी में माल चुरा लेना या किसी को डरा-धमका कर किसी का माल ले लेना ही चोरी नहीं है। किसी की ख़ास परिस्थिति से नाजायज़ फ़ायदा उठाना भी चोरी है। किसी की मेहनत का फल आप खाजाना भी चोरी है। एक किसान या मज़दूर दिन-भर कड़ी मशक्कत करता है, अपना खून पसीना एक कर देता है, लेकिन उसकी कमाई का बड़ा भाग ज़मींदार या पूंजीपति ले लेता है। ज़मींदार और पूंजीपति की कमाई हुई पूंजी भी या तो मज़दूरों की मिहनत की कमाई है या उसके बाप-दादा की। इस पूंजी के बनाने में भी तो समाज का बड़ा भारी हाथ है। रेल, तार, डाक, क़ानून और पुलिस आदि सभी की मदद से तो एक पुरुष धनी हुआ है। यदि क़ानून का डर न हो, तो डाकू बड़े-से-बड़े करोड़पति को थोड़े ही समय में कंगाल करदें। समाज के सहयोग से रक्षित और पैदा की हुई सम्पत्ति पर क्यों एक ही आदमी का अधिकार होजाय? फिर क्या यह अन्याय नहीं है कि आज से सौ-दोसौ साल पहले किसी ने अपनी मेहनत से या सरकार की मिहरबानी से या किसी

दूसरे तरीक़े से बहुत-सा धन इकट्ठा कर लिया, तो उसके वंशज बिना मेहनत किये उसका उपयोग करते चले जावें ? क्या यह न्याय है कि एक पुरुष तो खून पसीना बहाकर भी ५) रु० महीने से ज्यादा नहीं पाता और एक आदमी समाज के सहयोग से रक्षित सम्पत्ति द्वारा गुलछर्रे उड़ाता है। इस तरह विचार करनेवालों का कहना है कि समाज में सम्पत्ति का समान बटवारा होना चाहिए, तभी प्रत्येक नागरिक को उसका पूरा अधिकार मिल सकेगा। जबतक यह नहीं होता, तबतक प्रत्येक पूंजीपति और प्रत्येक ज़मींदार मज़दूर और किसान के अधिकार का अपहरण करता रहेगा, उनके हाथ से रोटी छीनकर खाता रहेगा। जिस तरह सरकार का यह फ़र्ज़ है कि किसी को किसी के घर डाका न डालने दे, उसी तरह उसका यह भी फ़र्ज़ है कि सदियों से संगठित चोरी और डाके की इस संस्था—पूंजीवाद को भी खत्म कर दे। साधारण चोरी से एक दो आदमी तबाह होते हैं, लेकिन चोरी की उस संस्था से, जिसे सरकारी क़ानून और सैनिक-बल से सदा सहारा मिलता रहा है, करोड़ों आदमी तबाह हो गये हैं। एक नागरिक का यह अधिकार है कि उसकी मेहनत से कोई नाजायज़ फ़ायदा न उठाये, उसे अपनी मिहनत का पूरा फल भोगने का अधिकार हो।

यही विचारक-श्रेणी इस विचारधारा के साथ नागरिकों को यह अधिकार देना चाहती है कि उन्हें अपने जीवन की रक्षा के लिये—आर्थिक अधिकारों की गारंटी के लिये हर किस्म के आन्दोलन करने का हक़ है। कारख़ानों की हड़ताल इसी आन्दोलन का एक रूप है। जब मिलमालिक बहुत सताते हों, वेतन कम देते हों, ज्यादा समय काम लेते हों या दूसरी तरह की ज्यादतियाँ करते हों और कहने,

समझाने-बुझाने और प्रार्थना करने से न मानते हों, तब मज़दूर हड़ताल का हथियार उठाते हैं। प्रायः सभी सभ्य देशों में मज़दूरों का हड़ताल करने का अधिकार मंजूर किया जाता है। हालाँकि हड़ताल में बलप्रयोग का अधिकार नहीं होना चाहिए, फिर भी सब हड़तालों में थोड़ा-बहुत बलप्रयोग होता है, पिकेटिंग भी किया जाता है और प्रायः सभी हड़तालों में मारपीट के भी उदाहरण मिलते हैं। ज्यादातर साम्यवादी इन्हें अनिवार्य मानते हैं और वर्गयुद्ध को अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए ज़रूरी बताते हैं। रूस की महान् क्रान्ति इसी नीति का नतीजा है। वहां धनियों और ज़मींदारों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, हालाँकि अब कुछ दिनों से इस भावना में कमी आने लगी है। साम्यवादियों के मतानुसार सारी सम्पत्ति सर्वसाधारण में बाँट देनी चाहिए, जिससे हरेक शख्स संसार के सब ऐश-आराम और सुख भोग सके। इसका एक उपाय ये साम्यवादी विचारक यह बताते हैं कि उत्पत्ति के सब ज़रियों पर राष्ट्र का क़ब्जा होजाना चाहिए। भारत में भी ये विचार आजकल बहुत प्रचलित होरहे हैं।

इस सम्बन्ध में संसार के वर्तमान समय के सबसे बड़े क्रान्तिकारी विचारक महात्मा गाँधी के मत पर भी अब हमें विचार करना चाहिए। वे भी सम्पत्ति के वर्तमान विषम बटवारे को बहुत अवांछनीय समझते हैं। उनकी राय में अपने गुज़ारे भर के लिए आवश्यक सामग्री से अधिक लेना भी चोरी है। वे साम्यवादियों से कहीं ज्यादा जनसाधारण का हित और कल्याण चाहनेवाले हैं। लेकिन उनकी कार्यपद्धति साम्यवादियों से नहीं मिलती, वह जितना लक्ष्य पर ध्यान देते हैं, उससे कम महत्त्व साधन पर नहीं देते। उनका कहना है कि वर्गयुद्ध या हिंसा आपस में द्वेष की ही वृद्धि करेगा। सुन्दर और

शिव उद्देश्य के लिए हिंसा का--असत्य का—झूठ का प्रयोग कभी सुन्दर परिणाम नहीं पैदा कर सकता। वह सम्पत्ति के मौजूदा असमान बँटवारे का हल दो प्रकार से बताते हैं। वह समान-विभाजन के बजाय अपरिग्रह (ज़रूरत से ज्यादा चीज़ों का संग्रह न करने) पर ज़्यादा ज़ोर देते हैं। वह कहते हैं कि समान बँटवारा तो एक ऊपरी इलाज है। यह बीमारी दूर करने की असली दवा नहीं है। सामाजिक व्यवस्था, विषमता या अशान्ति की असली जड़ सम्पत्ति का असमान विभाजन नहीं, बल्कि परिग्रह यानी अपनी ज़रूरत से ज़्यादा संग्रह करने की प्रवृत्ति है। यही असली बुराई है। यदि अपरिग्रह के पालन की ओर दुनिया ध्यान दे तो कोई भूखों नहीं मर सकता। संसार में खाने-पीने की चीज़ों की कमी नहीं है। आवश्यकता है अपरिग्रह की—यानी कोई अपनी ज़रूरत से ज़्यादा न ले। गाँधीवाद के एक प्रमुख विचारक श्री हरिभाऊ उपाध्याय अपनी पुस्तक 'स्वतन्त्रता की ओर'[१] (पृष्ठ ३४२) में लिखते हैं:—"समान-विभाजन एक ऊपरी इलाज है, अपरिग्रह मनुष्य की इच्छा पर ही संयम लगाता है। एक बाहरी बन्धन है, दूसरा भीतरी विकास। समान बँटवारा जीवन के स्टैण्डर्ड पर कोई क़ैद नहीं लगाता, सिर्फ़ सम्पत्ति के समान रूप से बँट जाने पर ज़ोर देता है, इसके विपरीत अपरिग्रह जीवन की साधारण आवश्यकताओं तक ही मनुष्य को परिमित कर देना चाहता है। इसमें मनुष्य के लिए स्वेच्छापूर्वक त्याग, संयम और उसके फलस्वरूप सामाजिक तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता अधिक रहेगी।" यही भारतीय और रूसी संस्कृति का भेद है। महात्मा गाँधी यन्त्रवाद या बड़े पैमाने पर उत्पत्ति करने को अपरिग्रह के सिद्धान्त के विरुद्ध

१. सस्ता साहित्य मण्डल से प्रकाशित—मूल्य १।।)

और मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधक समझते हैं, इस कारण उसका विरोध करते हैं। मशीनरी की तह में एकदम ज़्यादा-से-ज़्यादा पैदा कर लेने की—परिग्रह की—इच्छा काम कर रही होती है और इसी परिग्रह-प्रवृत्ति का नतीजा है पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, एक देश का दूसरे की आज़ादी कुचलना। महात्मा गाँधी ज़मींदार को सलाह देते हैं कि वह अपनेको सम्पत्ति का मालिक न समझकर ट्रस्टी समझे और जिसे उसकी ज़रूरत हो, उसे इस्तेमाल करने में रुकावट न डाले। उनकी राय में धनवान लोग अगर ऐसा व्यवहार रक्खेंगे कि उनके बाग़-बग़ीचे, बंगले, गहने-लत्ते, गाड़ी-घोड़े, बरतन, दरी, गलीचे आदि उनके आश्रितों को इस्तेमाल के लिए मिल सकें, अगर वे उनकी सब ज़रूरतों का ख़याल रक्खें, तो धनी लोगों के सोने के बरतन में भोजन करने पर भी ग़रीबों को उनकी डाह न होगी।"

मैं शायद इस चर्चा में बहुत दूर चला गया। मेरा मतलब तो सिर्फ़ यह था कि प्रजा का यह अधिकार है कि उसकी जीवन-निर्वाह की आवश्यकतायें पूरी होनी चाहिएँ। गाँधीजी और समाजवादियों के तरीक़े में अन्तर है। जहाँतक अधिकार का सवाल है, दोनों यह मानते हैं कि कोई भूखा न रहे; लेकिन जहाँ साधन का विवेचन होगा, वहाँ गाँधीजी उदार, सत्य कल्याण-भावना की, आत्म-विकास की सलाह देंगे और साम्यवादी गृह-कलह, हिंसा और ख़ून-ख़राबी की।

समाज या सरकार द्वारा उत्पत्ति के सब साधनों पर क़ब्ज़ा करने का यह एक नतीजा होगा कि हरेक शख़्स अपने आजीविका-निर्वाह में भी परतंत्र होजायगा, यह वस्तुतः नागरिक अधिकारों पर कुठारा-

बात है। आज व्यवसाय-प्रधान देशों में भी, जहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति का सिद्धान्त माना जाता है, क्रियात्मक रूप से व्यक्ति स्वतंत्र नहीं रह सकता; क्योंकि उसे आख़िर थोड़ेसे कारख़ानों में से किसी-न-किसी में काम करने पर लाचार होना पड़ता है। परन्तु गाँधीवाद में, जहाँ घर-घर उत्पत्ति का काम किया जाता है, मनुष्य अपने काम के चुनाव और कार्यविधि में मिल की बनिस्बत बहुत स्वतंत्र होता है। फिर भी ऐसे कुछ नियन्त्रण तो सरकार को लगाने ही होंगे, जैसे व्याज की दर, कम-से-कम वेतन आदि का तय करना, जिससे ग़रीब जनता का धनी-वर्ग शोषण न कर सके।

सरकार का यह कर्तव्य है कि वह ऐसी व्यवस्था करे कि किसी आदमी पर धर्म, जाति, वर्ण या लिंग की वजह से आर्थिक क्षेत्र में नियन्त्रण न किया जाय, किसीके साथ पक्षपात न हो, किसीके साथ अन्याय न हो। सबको समानरूप से आर्थिक विकास का अधिकार हो। खेती या व्यवसाय आदि पर जो कर लगाये जायें, वे नागरिकों की शक्ति से अधिक न हों। शासन-विभाग इतना अधिक खर्चीला न हो कि जनता पर वह भाररूप होजाय। भारत में जितनी भी आर्थिक श्रेणियाँ हैं, उन सबके हित का ख़याल रक्खा जाय। जनता के आर्थिक विकास में सरकार पूरी तरह सहयोग दे। पुल, सड़क, रेल, तार, डाक और रक्षा आदि की व्यवस्था करना उसका कर्तव्य है। इसी तरह की अनेक बातों पर ध्यान खींचा जा सकता है, लेकिन इन सबकी तह में जो सिद्धान्त काम कर रहा है, उसका निर्देश मैं ऊपर कर ही चुका हूँ।

नागरिकों की आर्थिक स्वाधीनता तबतक क़ायम नहीं रह सकती, जबतक सारा देश ही आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र न हो। आजकल

अनेक देशों में राजनैतिक पराधीनता न होते हुए भी आर्थिक पराधीनता होती है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण चीन है, जहाँ विदेशी पूंजीपतियों और सरकारों ने प्रायः सारी आर्थिक मशीनरी पर अधिकार कर रक्खा है। इसी कारण चीन अपने व्यवसाय में बहुत कम तरक्की कर पाया है।

: ११ :

हमारे और अधिकार

२७-६-३८

पिछले पत्रों में मैंने देश की राजनैतिक स्वाधीनता के सिवा प्राय: सब नागरिक अधिकारों का थोड़े में परिचय दे दिया है। लेकिन इन अधिकारों के अन्तर्गत दूसरे भी कई अधिकार हैं, जिनका उल्लेख कर देना ज़रूरी है।

इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकार शिक्षा प्राप्त करने का है। जीवन, स्वास्थ्य और सम्पत्ति की रक्षा की गारण्टी का अधिकार जैसे नागरिक के लिए ज़रूरी है, ठीक उसी तरह समाज या राज्य का यह भी कर्तव्य है कि हरेक नागरिक के लिए कम-से-कम इतनी शिक्षा का प्रबन्ध तो ज़रूर करदे कि वह मामूली तौर पर लिख-पढ़ सके और अपने घर का हिसाब रख सके। जिस प्रकार एक राज्य की बहादुर या धनी जनता उसका बल होती है, ठीक उसी तरह शिक्षित जनता भी देश की एक शक्ति होती है। शिक्षा के फ़ायदे गिनाने की न तो यह जगह ही है और न ज़रूरत। शिक्षा से नागरिक अपने लाभ-हानि का विचार करने, चिट्ठी-पत्री लिखने-पढ़ने, हिसाब रखने तथा देश-विदेश की उपयोगी बातें जानने के लायक हो जाता है। एक समय था, जब यूरोप में सरकारें शिक्षा देना अपना कर्तव्य नहीं समझती थीं, लेकिन अब तो शिक्षा पर वे बहुत भारी रक़म ख़र्च करने लगी हैं। प्राचीन भारत में सकार यद्यपि शिक्षा का सब इन्तज़ाम ख़ुद नहीं करती थी, लेकिन वह शिक्षा के प्रचार में पूरी मदद देती

थी। भारतीय समाज का जो प्राचीन संगठन था, उसमें शिक्षा के दान की बहुत सुन्दर व्यवस्था थी। "सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते" कहकर शिक्षादान का महत्त्व स्वीकार किया गया था। यह काम ब्राह्मण-श्रेणी के सुपुर्द था। हरेक छोटा या बड़ा ब्राह्मण अपना यह फ़र्ज़ समझता था कि वह गाँव के लड़कों को पढ़ावे। हरेक ब्राह्मण का घर एक पाठशाला होता था, जहाँ गाँव के लड़के पढ़ते रहते थे। उन ब्राह्मणों का निर्वाह दो तरह से होता था। एक तो साधारण जनता द्वारा अनाज आदि की दक्षिणा के रूप में, और दूसरे सरकार या पञ्चायत द्वारा ज़मीन के दान के रूप में। सरकार की ओर से उन्हें बिना टैक्स की ज़मीनें मिली होती थीं। उपनिषद् की वह कथा तुमने ज़रूर सुनी होगी, जिसमें राजा अश्वपति ने बड़े अभिमान से यह कहा था कि मेरे राज्य-भर में कोई अशिक्षित नहीं है।[१] बहुत पुराने ज़माने की बात छोड़ भी दें, तो भी अंग्रेज़ी अमलदारी के शुरू में भी शिक्षा का प्रचार आज से ज़्यादा था। बंगाल के एक अंग्रेज़ स्कूल इंस्पेक्टर ने १८६८ ई० में लिखा था कि "अनगिनत पाठशालाओं, चटशालों और झोंपड़ों में, जो आज सारे देश में फैले हुए हैं, व्यापक शिक्षा का परिणाम देखा जा सकता है। उपेक्षा, घृणा और पिछले एक हज़ार साल की विपरीत अवस्थाओं के बावजूद आज ये संस्थायें जीवित हैं। इसीसे ज्ञात होता है कि

१. न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्, न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥ (छान्दोग्य उपनिषद्)

अर्थात् मेरे राज्य में एक भी चोर, कंजूस, शराबी, अग्निहोत्र न करनेवाला, अशिक्षित और व्यभिचारी पुरुष नहीं है। तब व्यभिचारिणी कोई कैसे हो सकती है?

इनके मूल में कितनी ज़बरदस्त प्रेरणा और शक्ति थी। आजकल धार्मिक-भाव दिन-ब-दिन कमज़ोर होरहे हैं, ग्रामों की पञ्चायतें भी अपने दिन गिन रही हैं, उद्योग-धन्धे भी नष्ट होते जा रहे हैं, ज़मीन पर टैक्स का भारी बोझ लादा जा रहा है और अदालतों व व्यापार और दूसरे सरकारी कारोबार पर विदेशी भाषा ने क़ब्ज़ा कर लिया है। इस तरह लोकप्रिय शिक्षा को मिलनेवाली राष्ट्रीय प्रेरणा लगातार कम हो रही है। इस (शिक्षा) की उन्नति अब इस बात पर निर्भर है कि विदेशी शासन से होनेवाली इस क्षति को सरकार किस तरह पूरा करती है।" लेकिन सरकार ने इस क्षति को पूरा करने के बदले उन ब्राह्मणों की आजीविका का साधन भी छीन लिया। वे माफ़ी की ज़मीनें भी जो सदियों और हज़ारों सालों से उन्हें मिली हुई थीं, उनसे छीन ली गईं।

आज हालत यह है कि जब दूसरे देशों की सरकारें नागरिकों की शिक्षा पर बड़ी-बड़ी रक़में ख़र्च करती हैं, तब भारत में शिक्षा पर खर्च होनेवाली रक़म बहुत थोड़ी है। १९३१ के आँकड़ों के अनुसार भारत-सरकार देश की आबादी के हिसाब से प्रति व्यक्ति सिर्फ़ १) रु० शिक्षा पर ख़र्च करती थी, जबकि ग्रेटब्रिटेन में ३२।), कनाड़ा में ४८) और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में ६५) रु० ख़र्च होता था। इसका नतीजा यह है कि जहाँ भारत में सिर्फ़ ८ फ़ीसदी नागरिक पढ़े-लिखे हैं, वहाँ ग्रेट ब्रिटेन में ९२.५, फ्रांस में ९४, जर्मनी में ९९.७, जापान में ९६ और आस्ट्रेलिया में ९८.३ फ़ीसदी हैं। ब्रिटिश भारत में प्रत्येक २१ के पीछे एक व्यक्ति शिक्षा प्राप्त कर रहा था, जबकि संयुक्तराष्ट्र अमेरिका व कनाडा में हर ४ के पीछे एक व्यक्ति शिक्षा हासिल कर रहा था। वस्तुतः शिक्षा भी मनुष्य की दूसरी अनिवार्य

आवश्यकताओं के समान एक अनिवार्य आवश्यकता है। इस कारण सरकार का फ़र्ज़ है कि वह नागरिकों की प्राथमिक शिक्षा का पूरा प्रबन्ध करे और इसका खर्च उनपर न लादे।

नागरिकों का एक यह भी अधिकार है कि सरकार जो नये क़ानून बनावे या कोई ख़ास हिदायत देना चाहे, उसके जनता में फैलाने का काफ़ी इन्तज़ाम करे। हालांकि क़ानून का न जानना अदालत की निगाह में कोई सफ़ाई नहीं है, फिर भी नागरिकों का यह पूर्ण अधिकार है कि उन्हें समय-समय यह मालूम होता रहे कि कौन-सा नया क़ानून बना है, कौन-सा नया हुक्म जारी हुआ है, किस चीज़ पर टैक्स लगाया, बढ़ाया या घटाया गया है। बग़ैर इन बातों के जाने लोग अगर नियम-भंग करें, तो वस्तुतः उनका दोष नहीं है। हरेक नये नियम या आज्ञा का प्रत्येक प्रान्तीय भाषा में अख़बारों, ट्रैक्टों भाषणों और डोंडी आदि के द्वारा सर्वसाधारण तक प्रचार करना चाहिए।

व्यापार-व्यवसाय आदि की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि व्यापारिक भेद गुप्त रह सकें। इसी तरह लोगों की बहुत-सी ऐसी घरेलू या सामाजिक बातें होती हैं, जिनका गुप्त रहना ज़रूरी है। सरकार का यह फ़र्ज़ है कि वह ऐसी व्यवस्था करे कि डाक, तार, टेलीफोन आदि के ज़रिये होनेवाली लोगों की गुप्त बातचीत बाहर प्रकट न हो सके। इस सुविधा के बिना न व्यापार चल सकते हैं और न घरेलू व सामाजिक प्रश्न हल हो सकते हैं। अगर किसी तरह कोई महत्त्वपूर्ण भेद प्रकट हो जाय तो ज़िम्मेदार कर्मचारी को सज़ा दी जानी चाहिए, जिससे आगे ऐसी घटनायें न होने पावें।

देश की जनता को जीवन-निर्वाह की गारण्टी या काम दे देने

से ही सरकार का फ़र्ज़ पूरा नहीं होजाता। उसका यह भी कर्तव्य है कि वह हरेक आदमी के काम की स्थिति की भी देखभाल करे। एक मज़दूर कारख़ाने में काम करता है, उसे वेतन भी सरकार द्वारा नियत की हुई दर के मुताबिक मिल जाता है। लेकिन इतने से ही सरकार निश्चिन्त नहीं हो सकती। उसे यह भी तो देखना चाहिए कि मज़दूर जिस कारख़ाने में काम करता है, वहाँ रोशनी और हवा का इन्तज़ाम है या नहीं, वहाँ उसे बहुत सख़्त गर्मी या सर्दी का तो मुक़ाबिला नहीं करना पड़ता, वहाँ मशीनों से उसे चोट लगने या उसकी जान जाने का ख़तरा तो नहीं है, और दुर्घटना होने पर उसका मुआवज़ा उस कारख़ाने का मालिक देता है या नहीं, उसे तनख़्वाह ठीक समय पर मिल जाती है या नहीं, उसके साथ बहुत ज़्यादती तो नहीं होती, बालकों और स्त्रियों को अपनी ताक़त से तो ज़्यादा काम नहीं करना पड़ता? एक समय था कि सरकारें इस आवश्यक विषय की ओर बहुत कम ध्यान देती थीं। उस समय के राजनीतिज्ञों का ख़याल था कि ये सब बातें देखना मज़दूर का काम है। यदि उसे किसी कारख़ाने की हालत पसन्द है, तो वह काम करेगा, नहीं तो नहीं करेगा। इस तरह मज़दूरों के इन्कार करने से विवश होकर मालिक ख़ुद इन्तज़ाम करेगा। यह मालिकों और मज़दूरों का आपसी मामला है, इसमें सरकार को दस्तंदाज़ी नहीं करनी चाहिए। लेकिन अब राजनीतिज्ञों का विचार बदल गया है। पूँजीपति अपने धन के प्रभाव से ऐसे हज़ारों लोगों को अपनी मुट्ठी में कर लेता है, जो ग़रीबी की वजह से सभी प्रकार की अच्छी-बुरी शर्तें स्वीकार करने को विवश होते हैं। सरकार इतनी बड़ी संख्या की ओर से महज़ इसीलिए आँखें बन्द नहीं कर सकती कि

उन्होंने कारख़ाने की हालतें जानते-बूझते हुए भी वहाँ काम करना मंजूर किया है। सरकार का फ़र्ज़ है कि वह इतनी बड़ी श्रेणी की विवशता से पूँजीपति को नाजायज़ फ़ायदा न उठाने दे। इसीलिए आजकल सरकारें फ़ैक्टरी-एक्ट बनाती हैं और पूँजीपतियों को कारख़ानों में आवश्यक सुधार करने पर विवश करती हैं। कारख़ाने, रेल, जहाज या ट्रामकम्पनियों के मज़दूरों, दुकानों के नौकरों और दफ्तरों के कर्मचारियों आदि सबकी कार्य-स्थिति की देख-भाल और उसमें उचित सुधार करना भी सरकार का फ़र्ज़ है और सरकार से इस प्रकार की आशा करना नागरिकों का पूर्ण अधिकार है।

कारख़ानों के मज़दूरों का ही नहीं, सर्वसाधारण जनता का भी यह अधिकार है कि उसे सारा दिन-रात काम की चक्की में न पिसना पड़े। उसे खेल-कूद या मनोरञ्जन की सुविधा देना भी सरकार का कर्त्तव्य है। इसके लिए जहाँ काम करने के समय पर पाबंदी लगानी चाहिए, वहाँ जगह-जगह सार्वजनिक उद्यान और दिलबहलाव व खेलकूद की व्यवस्था भी करनी चाहिए। आजकल सरकारें अपनी ज़िम्मेदारी को अधिकाधिक अनुभव करती जाती हैं और वे अपना फ़र्ज़ समझने लगी हैं कि प्रजा को हर तरह से सुख-सुविधा पहुँचाई जावे। इसीलिए वे जीवन के हरेक पहलू में हस्तक्षेप करने लगी हैं। दरअसल प्रजा अपनी सब चिन्तायें अच्छी सरकार को देकर निश्चिन्त हो जाना चाहती है। इसी दृष्टि से सरकार का यह भी फ़र्ज़ है कि वह खेती, उद्योग-धन्धों की उन्नति और सुधार का कार्यक्रम बनाये। नई-नई खोज और अन्वेषण के काम पर दो-चार हज़ार नहीं, लाखों रुपया ख़र्च हो जाता है और इतनी भारी रकम ख़र्च करना किसी एक आदमी या कम्पनी के बूते की बात नहीं।

ऐसे काम सरकार को रिआया के फ़ायदे के लिए करने चाहिएँ। हिन्दुस्तान में भी हालांकि सरकार ने इस दिशा में कदम उठाया है, पर दूसरे देशों के मुक़ाबिले वह बहुत ही कम है। इन प्रयोगों पर किया गया ख़र्च व्यर्थ नहीं जाता। एक प्रयोग जहाँ सफल हुआ कि उससे सारा देश लाभ उठाता है। एक छोटे-से नये प्रयोग से सारे देश की करोड़ों रुपयों की आमदनी बढ़ जाती है।

सरकार का यह भी फ़र्ज़ है कि वह यह देखे कि किन्हीं चीज़ों के दाम अनुचित रूप से ज्यादा या कम तो नहीं हो रहे हैं? सट्टेबाज मिलकर कभी किसी चीज़ के दाम बहुत बढ़ा देते हैं। कभी किसी ज़रूरी चीज़ की माँग विदेशों से इतनी ज्यादा आने लगती है कि अपने देश में ही उसकी आवश्यक मात्रा नहीं रहने पाती। पिछले कुछ सालों से भारत से लगातार सोने का बाहर जाना इसका बहुत बड़ा उदाहरण है। कभी किसी फ़सल के बहुत ज्यादा होने या विदेशी होड़ की वजह से चीज़ों के दाम बहुत गिर जाते हैं और इसका नतीजा यह होता है कि किसान को बहुत कम आमदनी होती है। कभी-कभी तो यह होता है कि पैदावार बढ़ने से किसान को फ़ायदे की जगह नुक़सान तक होने लगता है। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में एक साल ३२ करोड़ बुशल आलू पैदा हुए, उस साल आलू की कीमत १ डालर ८० सेण्ट फ़ी बुशल थी। लेकिन जिस साल आलू की पैदावार ४४ करोड़ ९० लाख बुशल हुई, उस साल आलू की क़ीमत भी गिरकर सिर्फ़ ८० सेण्ट रह गई। यानी पहले साल कुल पैदावार की क़ीमत ५,७६,००,००० डालर थी, लेकिन दूसरे साल उससे कहीं ज्यादा पैदावार की कुल कीमत सिर्फ़ ३,५२,००,००० डालर रह गई। गन्ने और जूट की पैदावार एकदम

बहुत बढ़ जाने से भारत में भी यही अनुभव हुआ। ऐसी सब हालतों में सरकार का यह फ़र्ज़ होता है कि वह बाज़ारभाव को ठीक रखने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करे। यह काम कई तरह से किया जा सकता है। वह विदेशों से आनेवाली चीज़ों (आयात) पर या किसी ख़ास ज़रूरी वस्तु के बाहर जाने (निर्यात) पर तटकर लगा सकती है, मण्डियों का नियन्त्रण कर सकती है, क़ानून द्वारा किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित कर सकती है, अपनी मुद्रा में कमी-बेशी करके क़ीमत पर असर डाल सकती है, किसी फ़सल की उपज पर नियन्त्रण करके मूल्यों में कमी को रोक सकती है। मैं इन सबके विस्तार में नहीं जाना चाहता। तुम अखबारों में प्रतिदिन इस प्रकार के समाचार पढ़ते रहते होगे। असल में यह सब व्यवस्था करना सरकार का फ़र्ज़ है। जनता की हर तरह की चिन्ता और समस्या हल करने की ज़िम्मेदारी सरकार पर है, क्योंकि जनता ने अपनी शक्ति सरकार में केन्द्रित करदी है। इसी दृष्टि से अधिकार के सम्बन्ध में तुम जितना भी विचार करोगे, उतना ही साफ़ तौर पर जनता के सभी अधिकार तुम्हारे सामने आजायँगे।

इस पत्र के साथ मैं अपनी राष्ट्रीय महासभा (काँग्रेस) के उस प्रस्ताव[1] की नक़ल भी भेज रहा हूँ, जिसमें उसने अपने आदर्श स्वराज्य की कल्पना की है और जिसमें नागरिकों के प्रायः सभी मौलिक अधिकारों का समावेश हो गया है।

१. देखिए परिशिष्ट नं० २।

: १२ :

हमारा देश आज़ाद हो

२९-६-३८

पिछले पत्रों में मनुष्य के प्रायः सभी नागरिक अधिकारों पर मैं रोशनी डाल चुका हूँ। इनपर जितना विस्तार से विचार किया जायगा, उतने ही ज्यादा अधिकार के भेद हमें मालूम होंगे। लेकिन इस पत्र में मैं जिस अधिकार का ज़िक्र करना चाहता हूँ, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसीपर सब नागरिक अधिकारों का दारोमदार है। यदि वह न हो, तो दूसरे सब नागरिक अधिकारों की प्राप्ति नामुमकिन हो जाती है। वह महत्त्वपूर्ण अधिकार है अपने देश की आज़ादी। जिस समाज या राष्ट्र में राष्ट्रीय स्वाधीनता ही नहीं है, उसमें दूसरी किसी—व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनैतिक या आर्थिक स्वाधीनता की कल्पना ही नहीं हो सकती। विदेशियों के राज्य में शासकों का शासित देश की अपेक्षा शासक-देश के हितों को ज्यादा प्रधानता देना निश्चित है। अगर शासक देश अपना लाभ न देखे, तो वह एक देश को राजनैतिक गुलामी में रखने के लिए भारी झंझट क्यों करे? आजकल जितने भी पराधीन राज्य हैं, उन सबके शासक अपने अधीन देशों का लगातार आर्थिक व राजनैतिक शोषण कर रहे हैं। दूसरे देशों का उदाहरण देने की ज़रूरत नहीं। हम भारत-वासी ही राजनैतिक ग़ुलामी के बहुत बड़े उदाहरण हैं। हमारे यहाँ भारत की आर्थिक, व्यापारिक और व्यावसायिक नीति बनाते समय

हमेशा पहले ब्रिटिश हितों को तरजीह दी जाती है। इसके लिए मैं तुम्हारा ध्यान पिछले डेढ़सौ बरसों के भारत के आर्थिक इतिहास की ओर खींचना ही काफ़ी समझता हूँ। किन नीच उपायों से ब्रिटेन के हित के लिए भारत के व्यापार-व्यवसाय को नष्ट किया गया, किस तरह संसार के सबसे धनी देश को डेढ़ सौ बरसों में दुनिया का सबसे ग़रीब देश बना दिया गया, किस तरह आज भी विनिमय-दर को ब्रिटेन के अनुकूल रखकर भारत का करोड़ों रुपया हरसाल इंग्लैण्ड ले जाया जा रहा है, किस तरह भारत के उठते हुए नये व्यवसायों को एक्सा-इज़-करों या संधियों की आड़ में दबाया जाता रहा है, किस तरह अंग्रेजों को भारी-भारी नौकरियाँ देकर भारत के ग़रीब करदाताओं पर शासन का भारी बोझ लादा जा रहा है, किस तरह विदेशी पूँजी-पतियों से अनुचित शर्तें करके उन्हें मनमाना लाभ उठाने दिया जाता रहा है, यह सब कहानी भारत के ही इतिहास में नहीं, दुनिया के इतिहास में भी अपना एक ख़ास स्थान रखती है। जब एक देश में उसका हित ही न देखा जाय, तो उस देश के नागरिकों को आर्थिक स्वाधीनता मिलने की भी उम्मीद कैसे की जा सकती है? यहाँ तो सभी देशवासियों की आर्थिक स्वाधीनता के मूल में ही कुठाराघात किया गया है। यह भी स्वाभाविक है कि इन परिस्थितियों में हिन्दुस्तानी लोग अपनी आज़ादी पाने के लिए प्रयत्न करते। पर वे कोई प्रयत्न न कर सकें, इसके लिए भी शासकों ने दमननीति का पूरा सहारा लिया। उनके हथियार छीन लिये गये, उनके लिखने-बोलने पर पाबन्दी लगा दी गई, उनके सभा-संगठनों पर व्यापक रूप से नियंत्रण किया गया, नागरिकों की गति-विधि पर भी कठोर नियन्त्रण किया गया, देश की अपनी संस्कृति, अपनी भाषा और अपनी लिपि तक

नष्ट करने में कुछ नहीं उठा रक्खा गया। इसके अलावा सारे देश को, जो संसार में सबसे सभ्य राष्ट्र था, ज़हरीली शिक्षा देकर उनका मानसिक और चारित्रिक पतन करने का भी प्रयत्न किया गया, जिससे वे स्वतन्त्रता की चर्चा ही करना भूल जायँ। केवल भारत ही नहीं, सारे गुलाम देशों में यही घटनायें दुहराई जाती हैं। असल में किसी देश की परतन्त्रता की कहानी उस देश के इतिहास का सबसे करुणा-पूर्ण अध्याय होता है।

यही सब कारण हैं कि देशवासी अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए खुशी से सर्वस्व बलिदान करने को तैयार रहते हैं। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए संसार में सैकड़ों लड़ाइयाँ हुई हैं और उन राष्ट्रों के युद्धों में हमें सोने के अक्षरों में लिखे जाने योग्य अपूर्व बलिदान के बीसियों उदाहरण मिलते हैं। हालैण्ड, आयर्लैण्ड, अमेरिका आदि के स्वातन्त्र्य-युद्ध कितने अधिक स्फूर्तिदायक हैं, यह इतिहास के किस विद्यार्थी को मालूम नहीं है? भारत का पिछला अहिंसात्मक स्वातन्त्र्य-युद्ध क्या कम स्फूर्तिदायक है? आज भी चीन अपनी आज़ादी की रक्षा के लिए जो-कुछ कर रहा है, वह तुम्हें मालूम ही है। यह सब त्याग और बलिदान किस लिए? इसलिए कि मेरा देश आज़ाद हो—मैं सब नागरिक स्वतन्त्रताओं का उपभोग कर सकूँ; क्योंकि किसी देश की आज़ादी ही अन्य सारी नागरिक स्वतन्त्रताओं का मूल आधार है।

राष्ट्रीय स्वन्त्रता के नष्ट होने से व्यक्तिगत आत्म-स्वातन्त्र्य भी नष्ट हो जाता है और आत्म-स्वातन्त्र्य के नष्ट होने पर नैतिक विकास असंभव होजाता है। राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त होजाय, तो अन्य सब नागरिक स्वाधीनताओं को हासिल करना भी संभव हो जाता है, लेकिन

इस स्वतन्त्रता के अभाव में तो अन्य सब अधिकारों की आशा करना बालू से तेल निकालने की आशा करना है।

इस पत्र के साथ मैं अधिकारों की चर्चा समाप्त करता हूँ। अधिकारों की चर्चा बहुत लोकप्रिय विषय है। सभी अधिकार प्राप्त करने को उत्सुक हैं। लेकिन केवल उत्सुकता से कुछ नहीं होता। अधिकार-प्राप्ति की योग्यता भी तो प्राप्त करनी चाहिए। और फिर अधिकारों की रक्षा के लिए भी ताक़त, संगठन और दृढ़ संकल्प भी उतने ही ज़रूरी हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि अधिकार पाकर नागरिक या राष्ट्र मद में चूर न हो जाय।

: १३ :

हमारे कर्तव्य

६-७-३८

पिछले पत्रों में मैंने तुम्हें एक नागरिक के क्या-क्या अधिकार होते हैं, यह बताने की कोशिश की थी। पर यह तो तुम समझ ही सकते हो कि जब हम एक समाज, देश या राष्ट्र में रहते हैं तो उसके नागरिक की हैसियत से सिर्फ़ अपने अधिकार का ही हमें ख़याल नहीं रहना चाहिए। हमारा भी उस समाज, राष्ट्र या देश के प्रति कुछ फ़र्ज़ होता है। बल्कि मैं तो यह भी कहूँगा कि जिस समाज, देश या राष्ट्र में हम रहते हैं, उसके प्रति हमारा जो फ़र्ज़ है, उसे अदा करने के बाद हम अपने अधिकार का दावा करें। बग़ैर अपना फ़र्ज़ अदा किये अपने अधिकार का दावा करना मेरी निगाह में चोरी है। इन आगे के पत्रों में मेरा इरादा अपने कर्तव्यों के बारे में चर्चा करने का है। यद्यपि अधिकारों के बजाय कर्तव्यों का विषय दिलचस्प कम होगा और उसमें हमें अपनी बुराइयों और कमियों पर निगाह डालनी होगी, इस वजह से शायद कुछ अप्रिय भी मालूम हो, पर मुझे आशा है कि जिस भावना से तुमने मुझसे यह पत्र-माला शुरू कराई है, उसमें तुम्हें यह भी दिलचस्प ही मालूम होगा।

कुछ दिन पहले मैं इटली के प्रसिद्ध विचारक और देश-भक्त जोसेफ़ मैज़िनी की 'मनुष्य के कर्तव्य' (Duties of man) नामक पुस्तक पढ़ रहा था। उसमें मैज़िनी ने अपने शुरू के वक्तव्य में एक बहुत ही गम्भीर प्रश्न किया है। वह प्रश्न उस समय जितने ज़ोर के

साथ किया जा सकता था, उतने ही ज़ोर से आज भी किया जा सकता है। मैज़िनी ने इटली के मज़दूरों को अपनी पुस्तक का उद्देश्य बताते हुए कहा है कि अधिकार की बजाय कर्तव्यों का उपदेश देना तुम्हें विचित्र प्रतीत होगा। तुम कहोगे कि "हम गरीब हैं, गुलाम हैं और दुःखी हैं। हमारे सामने तो भौतिक सुखों की बात करो, हमें आज़ादी, सुख व अधिकारों का सन्देश सुनाओ। हमें बताओ कि क्या हमारी ज़िन्दगी इसी तरह दुःख में बीतेगी या हम कभी सुख भी भोगेंगे। कर्तव्यों का उपदेश तो हमारे मालिकों को दो, जो हमसे मशीनों की तरह काम लेते हैं और जो हमपर तरह-तरह के अत्याचार करते हैं। हमें तो अधिकार, संगठन और ताक़त का सन्देश सुनाओ, जिससे हम उनसे बदला ले सकें। जब हम शक्तिसम्पन्न हो जावें, भर-पेट रोटी खाने लगें और तन ढकने को बढ़िया कपड़ा पहनने लगें, तब आप हमें कर्तव्य का उपदेश देना।" आज के हिन्दुस्तानी और ख़ास कर दुःखी-दरिद्र ग्रामीण भी यही कह सकते हैं। और उनकी यह बात दिल को लगती भी ज़रूर है। बात यह है कि उन लोगों को, जो अबतक अपने मालिकों की, सरकारी अफ़सरों और ज़मींदारों की जायज़-नाजायज़ सभी आज्ञाओं को बिना ननुनच सिर-आँखों रखते आये हैं, जो अपने-आप भूखों रह कर, गरमी और सरदी में नंगे बदन दिन गुज़ारकर अपना सब-कुछ ज़मींदारों व हाकिमों को अर्पण करते रहे हैं, उनके सामने कर्तव्य की चर्चा करना क्या पागलपन नहीं है? मैज़िनी ने इसका जो जवाब दिया है, वह मनन करने योग्य है। वह कहते हैं कि मनुष्य के अधिकारों के नामपर पिछली सदियों में कई महान कार्य हुए हैं—फ्रांस की क्रान्ति या उसके बाद आनेवाली अनेक भीषण क्रान्तियाँ, मनुष्य के अधिकारों की घोषणा, दार्शनिकों व साहित्यिकों द्वारा मनुष्य के अधिकार की चर्चा

आदि महान् कार्य हुए हैं। कई देशों में मनुष्य ने अधिकार भी प्राप्त कर लिए हैं, पर क्या वस्तुतः उनकी हालत सुधर गई है ? क्या इन देशों में रहने वाले सुखी हैं ? वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण उत्पत्ति ज़रूर दुगनी हो गई है, व्यापार खूब बढ़ गया है, आने-जाने के साधन भी खूब सुधर गये और सुगम हो गये हैं, मनुष्य के पैदायशी अधिकार को भी मंजूर किया जाने लगा है, राजनैतिक दृष्टि से भी मनुष्य अपने को कहीं ऊँचा समझने लगा है, पर क्या इस सबके बावजूद मनुष्य की—आम जनता की हालत सुधर गई है ? उत्पत्ति के सबमें समान विभाजन के बजाय क्यों एक नयी कुलीन श्रेणी बनाने का प्रयत्न हो रहा है ? व्यापार और व्यवसाय की वैज्ञानिक उन्नति का नतीजा मानव जाति का कल्याण न होकर क्यों थोड़े से इने-गिने मनुष्यों का भोगविलास-मय जीवन होगया है ? इसके उत्तर में मैज़िनी कहते हैं कि इसका जवाब साफ़ है। जिस श्रेणी ने क्रान्ति की है, उसके सामने एक ही उद्देश्य था और वह था स्वाधीनता—व्यक्तिगत स्वाधीनता और नागरिक स्वाधीनता की प्राप्ति। लेकिन इसका उन आम लोगों के लिए कोई मतलब न था, जिन्हें यह आज़ादी नहीं मिली थी। असल में जिन लोगों का व्यापार-व्यवसाय से कोई तालुक न था, जिनके पास न पैसा था, न शिक्षा, उन्हें तो कोई अधिकार ही नहीं मिला। इन अधिकारों को प्राप्त करनेवाली तो एक छोटी-सी मध्यम-वर्ग की जमात थी, जिसके पास ज़मीन थीं और पैसा भी था। इस क्रान्ति से आम लोगों का, जो दिन-रात कड़ी मेहनत करनेवाले मज़दूर या किसान थे, कोई सम्बन्ध न था। इनके लिए तो स्वतंत्रता और अधिकारों की घोषणा एक मज़ाक था। उनकी ओर मध्यमवर्ग की जमात ने भी उपेक्षा दिखाई। उसे तो अपने अधिकारों की परवा थी,

दूसरे की उसे कोई चिन्ता न थी। जब उसके स्वार्थ दूसरे से टकराये, तब एक युद्ध हुआ। यह युद्ध बन्दूकों व तोपों का न था, यह एक नये क़िस्म की सोने-चांदी की लड़ाई थी—चालाकी व धोखेबाज़ी की लड़ाई। पर इसका नतीजा तलवारों और तोपों के हिंसात्मक युद्ध से भी भीषण था। इस लड़ाई में पैसेवालों ने ग़रीबों को तबाह कर दिया। मनुष्य की स्वतंत्रता उच्छृंखलता के रूप में परिणत होगई। धार्मिक या नैतिक भावना का बंधन न होने से हरेक अपना सुख, अपना स्वार्थ खोजने लगा। किसी को यह फ़िक्र न हुई कि हमारी आज़ादी से दूसरे के अधिकार कुचले जा रहे हैं।

अधिकारों की सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता। उनका अस्तित्व है और निश्चित है। पर सवाल उठता है कि जहाँ एक शख़्स के अधिकार दूसरे के अधिकारों से टकराते हैं, वहाँ दोनों का समन्वय कैसे होगा? जहां एक मनुष्य के अधिकारों का, एक समूह या देश के अधिकारों से संघर्ष हो, वहाँ कौनसी अदालत में अपील की जाय? अगर मज़दूर और मिल-मालिक सभी को अपने स्वार्थ के साधन का ही ख़याल रहे, तो इन दोनों के झगड़ों का पंच कौन बनेगा? यदि जीवित रहने का अधिकार सबको है तो समाज के हित के लिए अगर मरना पड़े तो कौन मरेगा और कौन किससे त्याग और बलिदान की अपील करेगा? क्या तुम देश, समाज या बिरादरी के नाम से यह अपील करोगे? देश या समाज भी क्या है? समाज ने यही तो मनुष्य को तसल्ली दी है कि वह अपने अधिकारों का इस्तेमाल कर सकता है। अब क्या तुम उसे कहोगे कि वह सब अधिकार समाज को सौंप दे और यदि समाज के लिए ज़रूरी हो तो वह जेल जाय, युद्ध में लड़े और मर जाय? अपने

सुख को समझने का समाज ने उसे उपदेश दिया और अब क्या समाज ही उसे कहेगा कि वह अपना सुख और अपना जीवन देश या समाज को विदेशियों से मुक्त करने के लिए बलिदान करदे? और कहोगे किस आधार पर? तुमने उसे बरसों से भौतिक स्वार्थों की शिक्षा दी है। तब तुम उससे यह कैसे आशा कर सकते हो कि वह अब अपनी पहुँच में आई हुई सम्पत्ति व शक्ति को छोड़ देगा? वह तो उसे अपने अधिकार में रखने की भरपूर कोशिश करेगा, भले ही इससे दूसरों के हितों को नुक़सान पहुँचे।

मैज़िनी बड़े दुःख के साथ इटली की आम जनता को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि उनका यह विचार-प्रवाह अकारण ही नहीं है। यह इतिहास है—हमारे अपने समय का इतिहास है, जिसके पन्ने-के-पन्ने हमारे भाइयों के खून से रंगे हुए हैं, जिसे देखने के बाद मैं इन नतीजों पर पहुँचा हूँ। १८३० की भयंकर क्रान्ति देखो, जब हज़ारों लोग क्रान्ति के नाम पर राजकीय और धर्म के उच्च अधिकारियों से दूसरी छोटी-सी श्रेणी के (मध्यमवर्ग) के हाथ में सत्ता लेने के लिए मार दिये गये। यह सब क्यों हुआ? इसका कारण था अधिकारों के सिद्धान्त की शिक्षा। कर्तव्य की शिक्षा उन्हें नहीं दी गई थी। उन्होंने (मध्यमश्रेणी ने) आमलोगों की सहायता से चार्ल्स दसवें के विरुद्ध युद्ध किया और सब प्रकार के कष्ट सहन किये, लेकिन जब उन लोगों को राजनैतिक अधिकार मिल गये, उन्हें बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियाँ मिल गईं, जब उन्हें वह सुख मिल गया जिसके लिए उन्होंने लड़ाई की थी, तो वे आम जनता को, उन लाखों लोगों—को भूल गये, जो शिक्षा में, धन में उनसे छोटे थे। उन्हें आम जनता की चिन्ता ही न रही और उनका अधिकार-युद्ध खतम हो गया।

संसार के इतिहास में ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिलेंगे, जबकि एक श्रेणी ने मानव-अधिकार के नामपर शासकों से संघर्ष किया, लेकिन जब ताक़त उनके हाथ में आगई, तब वे भी आम लोगों के अधिकारों की उसी तरह उपेक्षा करने लगे, जिस तरह पहले के शासक उनकी उपेक्षा किया करते थे। इसका एकमात्र कारण यह है कि उन्हें अधिकार प्राप्ति की शिक्षा तो खूब दी गई, लेकिन कर्तव्यपालन की सलाह नहीं दी गयी थी। उन्हें यह तो बताया गया कि अपने अधिकारों के लिए लड़ो, लेकिन उन्हें यह सलाह नहीं दी गई कि समाज या राष्ट्र के प्रति भी तुम्हारा कुछ कर्तव्य है, अपने अधिकारों की रक्षा के साथ-साथ दूसरे के अधिकारों की भी रक्षा तुम्हें करनी है।

यदि अधिकारों के सिद्धान्तों में विश्वास करनेवाला एक व्यक्ति समाज या राष्ट्र के प्रति यह कह करके विद्रोह कर दे कि—मैं समाज के कायदे-क़ानून नहीं मानता; मैं तो अपने अधिकारों की रक्षा करूँगा, मुझे कौन रोक सकता है, मैं जो चाहूँ, करूँगा। ऐसे विद्रोही को किस तरह रोका जा सकता है? यदि वह कायदे क़ानून तोड़े, तो तुम्हें उसे दण्ड देने का क्या अधिकार है? वह तो अपने अधिकारों के लिए लड़ता है और इसका उसे अधिकार है। हमारा उसे दण्ड देना तो एक लड़ाई-सी हुई, शान्ति तो न हुई। वस्तुतः ऐसी बागी प्रवृत्ति को अधिकार की शिक्षा देकर नहीं, कर्तव्य-पालन की शिक्षा देकर ही शान्त किया जा सकता है। अधिकारों का सिद्धान्त हमें उन्नत होने और सब बाधायें उखाड़ फेंकने में सहायता देता है, लेकिन राष्ट्र के जुदा-जुदा हिस्सों में समन्वय, संगठन और स्थायी शान्ति पैदा नहीं करता। व्यक्तिगत सुख के सिद्धान्त से ऐसे आदमी

तो पैदा हो जायगे, जो अहम्भाव रखते हों, दुनियावी सुखों में विश्वास करते हों, लेकिन समाज की कल्याण-भावनावाले पैदा नहीं हो सकेंगे। इसके लिए कर्तव्य के सिद्धान्त की शिक्षा देना निहायत ज़रूरी होगा। हमें लोगों को यह समझाना होगा कि एक परमात्मा के सब पुत्रों को एक नियम का ही पालन करना है। हरेक यह सोचे कि मुझे दूसरों के लिए जाना है, सिर्फ अपने ही लिए नहीं, केवल अपना सुख ही मेरा उद्देश्य नहीं, अपना और अपने सब पड़ोसियों का सुख भी मुझे देखना चाहिए, अपने भाइयों के फ़ायदे के लिए अन्याय और पाप के विरुद्ध युद्ध करना केवल अधिकार ही नहीं है, यह मेरा कर्तव्य है। इस कर्तव्य को भूल जाना पाप है। अधिकार छोड़ने की कोई सलाह नहीं देता, लेकिन अधिकार की प्राप्ति के लिए भी कर्तव्य-पालन बहुत ज़रूरी है। बिना कर्तव्यपालन के अपने अधिकारों की रक्षा असंभव है। मैज़िनी के शब्दों में अपनी उन्नति भी अपने प्रति कर्तव्य का पालन है। वह कर्तव्य को इतनी प्रमुखता देता है कि वह उसे उद्देश्य और अधिकार को साधन कहता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हुए अपने अधिकार, पड़ोसी के अधिकार और समाज या देश के अधिकार के प्रति भी मनुष्य अपनी ज़िम्मेदारी निभा सकता है।

इस पत्रमाला को शुरू करते हुए मैंने अधिकार और कर्तव्य पर विचार करते हुए लिखा था कि—"मनुष्य के जीवन के लिए समाज लाज़मी है, इसलिए उसकी रक्षा भी लाज़मी है।……अगर समाज की रक्षा न की गई, इसे नष्ट होने दिया गया तो, यह नष्ट होकर मनुष्य को भी मार देगा।" "समाज मनुष्य की उन्नति में बाधक न हो और मनुष्य समाज की उन्नति में बाधक न हो। दोनों एक दूसरे की उन्नति में मदद-गार हों। ऐसी हालत उत्पन्न करने के लिए मनुष्य को समाज के प्रति जो-

कुछ करना पड़ता है, वही उसका कर्तव्य है।......मनुष्य एक हाथ से समाज को अपने कर्तव्य-पालन के रूप में कुछ देता है और दूसरे हाथ से अपने अधिकारों की रक्षा के नाम से कुछ ले लेता है। यह 'ले' और 'दे' का समन्वय ही हमें समझने की आवश्यकता है।" दूसरे पत्र में भी मैंने कर्तव्य का निर्देश करते हुए लिखा था—"मनुष्य ने अपनी स्वतंत्रता क़ायम रखने के लिए ही—बलवान आक्रमणकारी, मनुष्य के अधिकारों पर कुठाराघात न कर सकें, इस उद्देश्य से समाज या राज्य की कल्पना की थी।......समाज के लिए कुछ बन्धन आवश्यक हैं यानी अधिकारों की रक्षा के लिए बन्धन अनिवार्य हैं।......मनुष्य पर राज्य का बन्धन मनुष्य की उच्छृङ्खलता रोकने के लिए और राज्य पर मनुष्य का नियंत्रण या बन्धन राज्य की उछृङ्खलता रोकने के लिए लगाया जाता है। पहले प्रकार के बंधन मनुष्य के कर्तव्य हैं और दूसरे प्रकार के बंधन अधिकार हैं।"

खुद जीना मेरा अधिकार है, लेकिन दूसरे को जीने देना मेरा कर्तव्य है। मैं चाहता हूँ कि मेरे अधिकारों की रक्षा हो, लेकिन सामूहिक अधिकार-रक्षा के लिए यह निहायत ज़रूरी है कि मैं दूसरे के अधिकार की भी रक्षा करूँ। अगर लोग अपने कर्तव्य की—दूसरे के अधिकार-रक्षा की चिन्ता न करें, तो संसार में किसी का अधिकार भी सुरक्षित न रहे। सभी को हर समय दूसरे से अपने अधिकार छिन जाने का ख़तरा रहे तो समाज भी नष्ट हो जाय। मैं जहाँ समाज से लाभ की आशा करता हूँ, वहाँ दूसरा भी तो समाज से, जिसका कि मैं भी एक अंग हूँ, लाभ की आशा करता है। समाज के प्रति लोगों की उपेक्षा का नतीजा ऐसी अराजकता होगी, जिसमें किसी के अधिकार न बच सकेंगे।

हरेक को अनुभव करना चाहिए कि यदि मैं समाज के लिए नहीं हूँ, तो समाज भी तो सिर्फ़ मेरे लिए नहीं है। समाज के अधिकार की रक्षा का दूसरा नाम कर्तव्य है। आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज के दस नियमों में से दो नियमों में समाज के प्रति कर्तव्य पर ख़ासकर ज़ोर दिया है। ९वां नियम यह है—"प्रत्येक को अपनी उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।" १०वां नियम यह है—"सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिए, प्रत्येक हितकारी नियम में स्वतंत्र रहना चाहिए।" सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझना और सर्वहितकारी नियम-पालन में परतंत्र रहना—बंधन स्वीकार करना कर्तव्य के सिद्धान्त का मुख्य आधार है। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान, जान स्टुअर्ट मिल की 'स्वाधीनता' पुस्तक, ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं दो नियमों की व्याख्या है। वह स्वाधीनता का लक्षण करते हुए लिखता है कि—"दूसरों को किसी तरह हानि न पहुँचाकर और अपने हित के लिए किये गये दूसरों के यत्न में बाधा न डालकर अपने स्वार्थ-साधन की आज़ादी का नाम स्वाधीनता है।" यह शर्त कर्तव्य-पालन का ही निर्देश करती है।

संसार में आज जो अशान्ति है, वह चाहे छोटे क्षेत्र में हो या बड़े क्षेत्र में, चाहे एक ग्राम में हो, देश में हो या अन्तर्राष्ट्रीय संसार में, सबका मूल कारण लोगों, जातियों या राष्ट्रों की अपने कर्तव्य के प्रति उपेक्षा है। हरेक अपने अधिकार की रक्षा तो चाहता है, लेकिन अपने पड़ोसी, अपने समाज, अपने ग्राम, शहर, प्रान्त या देश और संसार के दूसरे राष्ट्रों के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अधिकारों की उपेक्षा करता है। इसीलिए आज संसार की आर्थिक और

राजनैतिक समस्यायें इतना भीषण आकार धारण करके सामने आ रही हैं।

साधारणतः कर्तव्य को हम नीचे लिखे विभागों में बाँट सकते हैं—

(१) **अपने प्रति**—अपनी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और भौतिक उन्नति। जबतक समाज के अंग ही पुष्ट न होंगे, समाज कैसे पुष्ट हो सकता है ? मनुष्य खुद भी समाज का एक अंग है, इसलिए अपने प्रति लापरवाही भी समाज के प्रति लापरवाही है।

(२) **ग्राम व नगर के प्रति**—हमारे राजनैतिक संगठन की इकाई ग्राम या नगर होते हैं। इनकी उन्नति अपनी उन्नति के लिए ज़रूरी है।

(३) **देश के प्रति**—राज्य किसी देश की उन्नति और अवनति के लिए बहुत उत्तरदायी है। जननी होने के कारण हम माता की इज्ज़त करते हैं, लेकिन मातृभूमि तो सारे देशवासियों की जननी है। देश ही दुर्बल होगया, गुलाम होगया तो देशवासी भी सुखी नहीं रह सकते।

(४) **समाज के प्रति**—समाज के जुदे-जुदे वर्गों, स्त्रियों, बालकों और दलितों के अधिकारों की हम पूरी रक्षा करें। विधर्मियों का भी आदर करें और विभिन्न आर्थिक श्रेणियों—मज़दूरों, किसानों आदि के सुखों और अधिकारों का ख़याल रक्खें।

इस तरह स्वयं, परिवार, मुहल्ला, ग्राम, ज़िला, प्रान्त और देश तक अपने कर्तव्य का दायरा बढ़ाते-बढ़ाते हम सारी दुनिया तक अपना दायरा बढ़ा सकते हैं, जब हरेक व्यक्ति को हम अपना

मानेंगे, हरेक देशवासी या हरेक धर्म माननेवाले का हित हमें अभीष्ट होगा। उस समय हमारा उद्देश्य होगा—

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥"

आगे के पत्रों में मैं कर्तव्य की इन्हीं दो-चार श्रेणियों पर रोशनी डालने की कोशिश करूँगा।

: १४ :

अपने लिए क्या करूँ ?

८-७-३८

हिन्दू शास्त्रकारों ने मनुष्य के जीवन का उद्देश्य मोक्ष बताया है। उनकी राय में स्वतंत्रता आत्मा का स्वभाव है। किसी बंधन में पड़ना उसके स्वभाव के विपरीत है, लेकिन कर्मफल के संयोग से उसे छोटे-बड़े अनेक बंधनों में आना पड़ता है। इन बंधनों से छूटने की कोशिश उसे हमेशा करते रहना चाहिए। एक साधक न केवल संसार के राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक बंधनों को तोड़ डालना चाहता है, वल्कि जीवन-मरण के बंधन से भी छूटने की कोशिश करता है। मनुष्य के अपने प्रति कर्तव्यों का विवेचन करते हुए धर्मशास्त्रों ने बहुत से योग, नियम और व्रत आदि बताये हैं, जिनसे आत्मा अपने जीवन को आदर्श बनाते हुए आध्यात्मिक उन्नति द्वारा परमात्मा में लीन हो सकता है और मोक्ष या निर्वाण पा सकता है।

लेकिन इन पत्रों में मैं इन कर्तव्यों का ज़िक्र नहीं करना चाहता। न तो मैं उसका अपने को अधिकारी ही मानता हूँ और न यह इस पत्रमाला का विषय है। यहाँ तो मैं केवल उन गुणों और कर्तव्यों का ही ज़िक्र करना चाहता हूँ, जिनका समाज के साथ—इस भौतिक जगत् की उन्नति के साथ सीधा सम्बन्ध है। निजी उन्नति के बारे में दुनिया के बहुत से फिलासफ़रों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है। उन सबपर विचार करना मेरे लिए नामुमकिन है। मैं तो थोड़े में ही इस विषय का ज़िक्र-भर करना चाहता हूँ।

शारीरिक उन्नति

एक भारतीय विद्वान् का कथन है—कि "शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम् ।" यदि शरीर ही तन्दुरुस्त नहीं तो लौकिक और पारलौकिक व्यवहारों में सफलता पाना कठिन है। 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन वास करता है,' कहावत में पूरी सचाई है। बिना तन्दुरुस्ती के जीवन बोझ होता है। किसी काम में भी उत्साह और रस नहीं लिया जा सकता। एक रोगी शरीर न जीवन का सुख ले सकता है और न कोई उन्नति कर सकता है। वह तो अपनी चारपाई पर पड़ा रहता है या दवाइयों की खोज में डाक्टरों के दर-दर भटकता रहता है। दुनिया में उसका जीवन व्यर्थ बीतता है। हमेशा बीमार रहनेवाले का जीना या मरना समाज के लिए बराबर है, क्योंकि वह समाज पर भार के सिवा उसके किसी काम नहीं आता। जबतक किसी देश का स्वास्थ्य अच्छा नहीं वह किसी भी दिशा में उन्नति नहीं कर सकता। भारतवर्ष में निरंतर होनेवाले शारीरिक ह्रास की ओर मैं तुम्हारा ध्यान अपने चौथे पत्र में खींच चुका हूँ। एक बार उन रोमांचकारी आंकड़ों को फिर पढ़ो और सोचो कि भारत में इस ओर कितना ज्यादा ध्यान देने की ज़रूरत है। ५०–६० साल तक दुनिया का अनुभव लेने के बाद ऐसी उम्र आती है, जबकि मनुष्य अपनी ओर से संसार को कुछ दे सके, लेकिन उससे पहले ही वह संसार से चला जाता है। इसका मतलब यह है कि दुनिया करोड़ों व्यक्तियों के कई दर्शकों के अनुभवों के लाभ से वंचित रह जाती है। शारीरिक उन्नति के उपाय तुम बीसियों स्वास्थ्य-संबंधी किताबों में पढ़ सकते हो और तुम जानते भी हो, फिर भी यह विषय अधूरा न रह जाय, इसलिए मैं कुछ उपायों की ओर तुम्हारा ध्यान दिलाना चाहता हूँ—

(१) मनुष्य को 'शतं जीवेम शरदः शतम्' (यानी मैं सौ वर्ष तक जीवित रहूँ) की वेद-प्रार्थना को अपना आदर्श बनाना चाहिए। इसके लिए दृढ़ संकल्प, आशावाद और हमेशा खुश रहने के गुणों का होना बहुत ज़रूरी है। इन तीन गुणों का शरीर पर जितना असर पड़ता है, उतना दूसरे किसी उपाय से नहीं। अंग्रेज़ी का मशहूर नाट्यकार शैक्सपीयर एक जगह लिखता है "प्रसन्न हृदय दिन-भर चलता रहता है, जबकि पाप का उदास हृदय एक मील से ही थक जाता है।"

(२) साफ़ हवा फेफड़ों के लिए बहुत ज़रूरी है। घर खुले और हवादार होने चाहिएँ, जिससे धूप और हवा खूब आसके। गाँवों के आदमी, यद्यपि दिन भर बाहर खेतों की खुली हवा में काम करते हैं, लेकिन उनके घर और खासकर उठने-सोने के कमरे बिलकुल बन्द होते हैं, जिनमें एक भी खिड़की और रोशनदान नहीं होता। शहरों में, जहाँ बाहर की खुली हवा नसीब नहीं होती, तपेदिक आदि गंदी बीमारियाँ इसीलिए होती हैं। कपड़े इतने ज्यादा नहीं पहनने चाहिएँ कि शरीर को हवा भी न लग सके। खद्दर के कपड़े तन्दुरुस्ती के ख़याल से बहुत अच्छे होते हैं। शुद्ध हवा में गहरी सांस लेने का अभ्यास करना चाहिए। एक डाक्टर का कहना है कि "हर रोज़ एक मनुष्य को चालीस से लगाकर पचास घनफुट तक हवा की ज़रूरत होती है।" हमारे पूर्वजों ने प्रणायाम पर इसीलिए ख़ास ज़ोर दिया था।

(३) साफ़ हवा की भांति साफ़ पानी भी बहुत ज़रूरी चीज़ है। गाँव में इस ओर बहुत-कम ध्यान दिया जाता है। गाँवों के कुएँ बिना ढके होते हैं फिर उनके पास लोग टट्टी-पेशाब करते भी संकोच

नहीं करते। इससे पीने का पानी गंदा हो जाता है। बहुत से गाँवों में, जहाँ तालाब का पानी पीने के काम में भी आता है, लोग तालाब में ही मैले कुचेले कपड़े धोते हैं। ऐसे तालाबों के पानी से कई रोग पैदा हुआ करते हैं। घर में भी पानी साफ़ बर्तनों में ढककर रखना चाहिए। किसी-किसी मौके पर पानी औटाकर भी पीना पड़ता है। रोज़ अच्छी तरह नहाने से कई रोग नहीं होने पाते। हमारे यहाँ कहा है "अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति।" (पानी से शरीर शुद्ध होता है)

(४) हवा और पानी के बाद तीसरी ज़रूरी चीज़ है धूप, बल्कि कई हालतों में तो धूप सबसे ज्यादा आवश्यक चीज़ है। सूरज की किरणों में रोग दूर करने की बड़ी शक्ति होती है। वे मनुष्य में स्फूर्ति और उत्साह का संचार करती हैं। 'स्वेद-स्नान' से भी कई रोग दूर होते हैं।

(५) भोजन के बारे में 'शुद्ध सात्विक और कम खाने' का नियम याद रखना चाहिए। मनुष्य के शरीर का आधार भोजन है। प्रत्येक अस्थि और प्रत्येक पेशी भोजन की ही बनी होती हैं। मनुष्य के मन और आत्मा पर भी भोजन का कम प्रभाव नहीं पड़ता। कहा है—"अन्नमयं हि मनः"। भोजन सादा होना चाहिए। बहुत भारी, चटपटा और नशीला भोजन शरीर के लिए ज़हर का काम करता है। चाय, काफ़ी, तमाखू आदि चीज़ें, जो आजकल की सभ्यता का आवश्यक अंग बन गई हैं, बहुत नुक़सानदेह चीज़ें हैं। दुनिया के मशहूर आविष्कारक एडिसन तमाखू के इतने ख़िलाफ़ थे कि सिगरेट पीने वाले किसी व्यक्ति को अपने यहाँ नौकर नहीं रखते थे। जर्मनी और इटली के डिक्टेटर हिटलर व मुसोलिनी भी तमाखू नहीं पीते। मांसाहार शरीर में खट्टापन और ज़हर पैदा करता है। अमेरिका

के प्रसिद्ध लेखक अप्टन सिंक्लेयर के कहे अनुसार "शराब मनुष्य जाति के पैसे को बाँधनेवाला प्रकृति का सबसे बड़ा जाल है।" डा० गुलिक के शब्दों में "नशे अथवा उत्तेजक पदार्थों पर भरोसा करना एक धोखेबाज़ साथी पर भरोसा करना है।" म० गाँधी हाथकुटे चावल, हाथपिसे आटे और हाथबने गुड़ आदि तथा कच्चे या सिर्फ़ उबाले हुए अनाज और सब्ज़ी आदि खाने की सिफ़ारिश करते हैं। इस विषय पर मैं तुम्हें सलाह दूँगा कि तुम कुछ नई पुस्तकें ज़रूर पढ़ो। मैं इस विषय का विशेषज्ञ भी नहीं हूँ और न यह पत्र इसके लिए ठीक स्थान ही है।

(६) नियमित कसरत करना भी स्वास्थ्य को उत्तम बनाने और जीवन को दीर्घ करने में सहायता करता है। कसरत करने से शरीर में हलकापन आजाता है, कार्य-शक्ति बढ़ती है, शरीर भरा हुआ और सुडौल हो जाता है, कफ़, मेद आदि रोग दूर होते हैं, जठराग्नि बढ़ती है, बदहज़मी तथा दूसरे रोग नहीं होते। व्यायाम के लिए देशी और विदेशी खेल दोनों हमारे यहाँ इस समय प्रचलित हैं। विदेशी कसरतें और खेलें काफ़ी ख़र्चीली होती हैं, वहाँ देशी खेल और व्यायाम बहुत सस्ते और सुगमता से किये जा सकते हैं।

(७) संयम या ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य-रक्षा के लिए लाज़िमी है। वीर्य सातों धातुओं में सबसे श्रेष्ठ है। भोजन का सार वीर्यरूप में बनता है। इसके विनाश की हमारे स्मृतिकारों ने मृत्यु से उपमा दी है। "मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्" ब्रह्मचर्य नाश से स्वस्थ से स्वस्थ शरीर कुछ समय में नष्ट हो जाता है। चेहरे पर रूप लावण्य का नाम नहीं रहता, आँखों की ज्योति मलीन हो जाती है, शक्ति नष्ट होते-होते राज-रोग जैसे बड़े रोग हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य की

कृपा से देवों ने मृत्यु को भी अपने वश में कर लिया था, यह कहावत निराधार ही नहीं है। ब्रह्मचर्य की रक्षा या संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए कामभाव से स्त्रियों का दर्शन, स्पर्श, एकान्तसेवन, भाषण, विषयकथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग इन आठ मैथुनों से अलग रहना हमारे नीति-नियमों में ज़रूरी माना गया है। दिन-रात विषयोत्तेजक और शृंगाररस-प्रधान काव्य, नाटक, उपन्यास पढ़ने और सिनेमा व नाटक देखनेवाले, खटाई-मिर्च आदि का खुला प्रयोग करनेवाले आजकल के अधिकांश कालेज के विद्यार्थियों से यह आशा भी नहीं हो सकती कि वे ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिता सकेंगे। मनुस्मृति में तो ब्रह्मचर्य-पालन करने के लिए मद्य, मांस, गंध, रस, स्त्री, खटाई, शृंगार(जोकि आजकल के फ़ैशनेबल लोगों में बहुत चल पड़ा है), बिना निमित्त उपस्थेन्द्रिय के स्पर्श आदि के त्याग और एकाकी शयन की सलाह दी गई है। भारत में भीषण रूप से प्रचलित बालविवाह ने हमारे राष्ट्र के शारीरिक ह्रास में जितना भारी भाग लिया है, उतना दूसरी किसी बुराई ने नहीं। संयम केवल ब्रह्मचर्य-आश्रम में ही नहीं, गृहस्थ-आश्रम में भी ज़रूरी है। स्वास्थ्य के और भी बीसियों नियम हैं, लेकिन उन सबकी चर्चा करने का यहाँ स्थान नहीं है।

मानसिक उन्नति

शारीरिक उन्नति से ही मनुष्य पूर्ण नहीं होता। एक आदर्श नागरिक बनने के लिए अपने मन और आत्मा को भी ऊँचा बनाना ज़रूरी है। महान् स्मृतिकार मनु ने इस सम्बन्ध में योगदर्शन में बताये पाँच यमों और पाँच नियमों का निर्देश किया है। यम और नियम

ये हैं :—व्रताहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। शौच सन्तोष-तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः । (योग० साधनपाद ३० और ३२ सूत्र)

इन दो छोटे-से सूत्रों में योगदर्शनकार पातञ्जलि ने गागर में सागर भर दिया है। मनुष्य की व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति करने के लिए अद्भुत कुशलता के साथ सभी ज़रूरी नियमों का इन दो सूत्रों में समावेश किया गया है।

व्यक्तिगत उन्नति के लिए योगदर्शनकार ने पाँच नियम बताये हैं। शौच (बाह्य शुद्धि, जिसका उल्लेख मैं स्वास्थ्य के प्रसंग में कर आया हूँ), सन्तोष (पुरुषार्थ करते जाना और दूसरों की उन्नति देखकर ईर्ष्या न करना), तप (कष्ट सहकर भी धर्मयुक्त नियमों व कर्तव्यों का आचरण) स्वाध्याय (शिक्षा और विविध विषयों का ज्ञान) और ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर की भक्ति) से मनुष्य की वैयक्तिक उन्नति होती है। इन पाँचों नियमों पर बहुत-कुछ लिखा जा सकता है, लेकिन यह लिखने से पत्र बहुत लम्बा हो जायगा। इनपर जितना विचार करोगे, उतना ही ज़्यादा इन गुणों की विशेषता स्पष्ट होती जायगी। मनु ने लिखा है कि केवल नियमों का ही पालन न करे। जो केवल नियमों का पालन करता है और यमों का पालन नहीं करता, वह भी पतित हो जाता है।[1] यम ऐसे सामाजिक कर्तव्य हैं, जिनका पालन समाज की रक्षा के लिए भी ज़रूरी है। अधिकारों के प्रकरण में नागरिक के जिन-जिन अधिकारों का विचार किया गया है, उनकी रक्षा के लिए, समाज की व्यवस्था क़ायम रखने के लिए, इन यमों

१. यमान्सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुध :
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ।। (अ० ४।२०४।।)

का पालन आवश्यक है। प्रत्येक नागरिक को जीवित रहने देने और उसके शरीर की रक्षा के लिए समाज के सदस्यों में अहिंसा का गुण अनिवार्य है। समाज का कारोबार चलाने के लिए एक-दूसरे का विश्वास करना, जिसका आधार केवल सत्य हो सकता है, ज़रूरी है। नागरिकों की सम्पत्ति तबतक सुरक्षित नहीं हो सकती, जबतक समाज के सदस्यों में अस्तेय (चोरी न करने) की प्रवृत्ति न हो। स्त्रियों के सतीत्व—शारीरिक और चारित्रिक धर्म की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। आज संसार में पूँजीवाद ने जो भीषण समस्या पैदा कर रक्खी है—संसार की ज्यादातर सम्पत्ति थोड़े-से पूँजीपतियों ने हथिया रक्खी है, इसका हल अपरिग्रह के व्रत में है। इस यम का पालन करनेवाला पूँजीपति बन ही नहीं सकता। उसके लिए अपनी आवश्यकता से अधिक लेना पाप है। जैनों के पाँच यम और बौद्धों के पाँच शील भी थोड़े-बहुत अन्तर के साथ यही सामाजिक धर्म हैं। हमारे पूर्वजों ने संसार के अनुभव तथा गम्भीर चिन्तन के बाद समाज के लिए जो नियम बताये हैं, वस्तुतः उनके पालन से संसार की बहुत-सी समस्यायें हल हो जाती हैं। मनु ने धर्म के दस लक्षण बताते हुए धृति (धैर्य), क्षमा (दूसरे का अपराध माफ़ कर देना), दम (आत्मसंयम), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (सफ़ाई—'सेनिटेशन' और 'हाईजिन'), इन्द्रियनिग्रह (इन्द्रियों को वश में करना), धी (बुद्धिपूर्वक आचरण), विद्या (शिक्षा-प्राप्ति), सत्य (मन, वचन और कर्म से सत्याचरण) और अक्रोध (क्रोध में अन्धा न होना) पर ज़ोर दिया है। ये दसों धर्म हैं—समाज का धारण करते हैं (धर्मो धारणात्); समाज की व्यवस्था क़ायम रखते हैं।

मैंने इस विषय पर प्राचीन स्मृतिकारों के उद्धरण दिये हैं, इसलिए

इन्हें योंही उपेक्षा से मत देख जाना या आजकल के गलियों में फिरनेवाले कथावाचकों की चर्चा मत समझ लेना। असल में ये सामाजिक नियम हैं। यूरोपीय विद्वानों की विचार-प्रणाली भले ही हमसे भिन्न हो, लेकिन वे भी इससे भिन्न और ऊँचे निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। यद्यपि जोसेफ़ मैज़िनी ने मनुष्य के कर्तव्यों का प्रारम्भ ईश्वर के प्रति कर्तव्यों से किया है, और हमारे स्मृतिकारों ने भी मोक्ष को आदर्श माना है, तो भी मैंने उसपर ख़ास ज़ोर नहीं दिया, क्योंकि मैं जापानी कवि ओमी ओकुरा की इस कविता को बहुत पसन्द करता हूँ—

'स्वर्ग को प्रकाशित करने के ढंग बहुत दूर हैं,
अब तू अपने पास की वस्तुओं पर ध्यान दे।
हे मित्र तू अपने पार्थिव गृह की ओर ध्यान दे,
और अपने कर्तव्य को यहाँ पूर्ण करने का उद्योग कर॥

मनुष्य की व्यक्तिगत आर्थिक उन्नति की चर्चा किसी और पत्र में करूँगा।

: १५ :

मैं और मेरा परिवार

१०-७-३८

हमारे पुराने स्मृतिकारों ने समाज के चार भाग किये हैं— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यजुर्वेद के एक मंत्र में ब्राह्मण को समाज के मुख से, क्षत्रिय को बाहु से, वैश्य को धड़ से और शूद्र को पैर से उपमा दी गई है। जिस तरह शरीर के ये चारों अंग भिन्न-भिन्न काम करते हुए भी उसके लिए एकसे ज़रूरी हैं, उसी तरह समाजरूपी शरीर के लिए भी विभिन्न काम करनेवाले ये चारों विभाग लाज़मी हैं। मनुस्मृत्ति में ब्राह्मण के कर्तव्य अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना-कराना, दान देना और लेना बताये गये हैं;[1] परन्तु एक दूसरे श्लोक में "प्रतिग्रहः प्रत्यवरः" कहकर दान लेने को क्षुद्रता भी कहा गया है। भगवद्गीता में शम (मन का बुरे विचारों की ओर से शमन), दम (इन्द्रियों पर नियन्त्रण), तप (कष्टमय सहिष्णु जीवन), शौच (सफ़ाई), क्षान्ति (निन्दा, स्तुति, सुख-दुःख आदि का ख़याल करना), आर्जव (कोमल व सरल स्वभाव), ज्ञान-विज्ञान (आध्यात्मिक और आधिभौतिक विद्याओं का अध्ययन) और आस्तिक्य (ईश्वरनिष्ठा) ब्राह्मण के गुण बताये गये हैं।[2] ब्राह्मण

१. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् (मनु० १-८८)

२. शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ (गीता अ० १८-४२)

समाज का मस्तिष्क और मुख (Mouthpiece) है। वह समाज को अपने साहित्य, अपने उपदेश और अपने आचरण द्वारा प्रेरणा कर सकता है। इस नेतृत्व के लिए उसमें इन गुणों का विकास ज़रूरी है।

क्षत्रिय के कर्तव्य मनु ने प्रजा की रक्षा, सुपात्रों को दान, यज्ञ, अध्ययन और विषयों से अप्रसंग (संयत जीवन) बताये हैं।[१] गीता ने क्षत्रिय के लिए जिन गुणों का होना ज़रूरी बताया है, वे ये हैं—बहादुरी, तेज, धैर्य, व्यवहार-कुशलता, युद्ध से न भागना, दान देना और राजशासन करने की शक्ति।[२] देश का शासन और रक्षण करनेवाले वर्ग में, चाहे आप उसे किसी नाम से बुलाइए, इन गुणों का विकास आवश्यक है। इन गुणों के बिना वह देश का ठीक तरह से शासन और रक्षण नहीं कर सकता।

स्मृतिकार मनु की सम्मति में पशुओं का पालन, दान, यज्ञ, अध्ययन व्यापार, महाजनी तथा खेती वैश्य के कर्तव्य हैं।[३] इसीको गीता में "कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम्" कहकर दोहराया गया है। शूद्र का कर्तव्य मनु और भगवान् कृष्ण ने इन तीनों वर्णों की सेवा बताया है।

वर्णव्यवस्था प्राचीनकाल में गुण, कर्म और स्वभाव से मानी

१. प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ (मनु० १।८९।)

२. शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ (गीता १८–४३)

३. पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिरेव च॥

जाती थी, न कि जन्म से, जैसा कि गीता में योगिराज कृष्ण कहते हैं "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मस्वभावशः" । जबसे हिन्दू-समाज ने इसे जन्म से बाँध दिया, तबसे इन गुणों और कर्तव्यों की ओर किसीका ध्यान न रहा, क्योंकि जब अपना जीवन बनाने का प्रयत्न किये बिना ही ब्राह्मणत्व मिल जाय, तब कोई क्यों पढ़ने-पढ़ाने,तप करने का कष्ट करे ? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के विभाग प्रत्येक काल और प्रत्येक समाज में रहते हैं, भले ही उन्हें कोई नाम दिया जाय। जबतक यह व्यवस्था संगठित और शुद्ध रहती है, सब वर्णों को अपने-अपने कर्त्तव्यों और गुणों का ध्यान रहता है, समाज का काम ठीक तौर से चलता रहता है। लेकिन जहाँ यह व्यवस्था बिगड़ जाती है, वर्ण, जोकि समाज के नागरिक हैं, अपना-अपना काम छोड़ देते हैं, अपनी-अपनी ज़िम्मेदारियाँ नहीं समझते, वहाँ सारे समाज की व्यवस्था बिगड़ जाती है।

लेकिन तुम भी कहोगे कि आजकल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि के शब्द तो भूतकाल की वस्तु हो गये हैं। आज के समाज में यह श्रेणी-विभाजन नहीं है। बीसवीं सदी में इन वर्णों की चर्चा शोभा नहीं देती और फिर तुम जैसे वर्तमान सदी के विचारों से भली-भाँति परिचित पुराणपन्थिता की बातें करें, यह तो और भी आश्चर्य की बात है। ठीक है, मैं तुम्हारे मनोभावों को समझ सकता हूँ। वर्ण-व्यवस्था को जन्म से बाँधने के कारण वह बदनाम हो गई है और आजकल के शिक्षितों में उसके प्रति घृणा या उदासीनता पैदा होना स्वाभाविक है। लेकिन थोड़ा-सा विचार करने से आजकल प्रचलित सब पेशों को इन चारों वर्णों में बाँटा जा सकता है। विभिन्न पेशों के कर्तव्यों के सम्बन्ध में निम्नलिखित दो-चार बातें यदि हम ध्यान

में रखलें, तो हमें अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता न पड़ेगी :

समाज का प्रत्येक सदस्य जो भी काम करता है, उसका प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समाज पर ज़रूर पड़ता है। इसलिए हरेक व्यक्ति के कर्तव्य की एक कसौटी यह है कि वह कोई ऐसा काम न करे, जिससे दूसरे की हानि हो। इसमें कई मौक़ों पर अपवाद अवश्य आ जाते हैं—जैसे चोर को अदालत दण्ड देती है, व्यभिचारी का समाज बहिष्कार करता है और हत्या करनेवाले को फाँसी मिलती है; लेकिन ऐसे कार्य उससे बड़े समाज के हित के लिए ज़रूरी हैं। अपनी मानसिक और आत्मिक उन्नति के सिवा भौतिक उन्नति के लिए भी लगन, अध्यवसाय, ईमानदारी, दृढ़ संकल्प आदि गुणों की ज़रूरत है। कोई पेशा हो, चाहे वह खेती हो या मजदूरी, इंजिनीयरी हो या अध्यापन, शासन-प्रबन्ध हो या सफ़ाई, सभी कामों में उन्नति की पूरी गुंजाइश है। कोई काम छोटा नहीं है। सभी काम जो समाज के लिए आवश्यक हैं, एकसमान हैं। किसी कार्य में छुटपन अनुभव न करना, उसमें सुधार और उन्नति की पूरी कोशिश करना, प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। संसार के बड़े-बड़े आविष्कार ऐसे ही ईमानदार महापुरुषों की सूझ, लगन और अध्यवसाय के परिणाम हैं। इंजिन के आविष्कार का विचार एक कारख़ाने के एक मजदूर को ही सबसे पहले सूझा था।

प्राचीन व्यवस्था के अनुसार आश्रम-व्यवस्था व्यक्तिगत धर्म का पालन है और वर्णव्यवस्था सामाजिक उन्नति के लिए आवश्यक व्यक्तिगत कर्त्तव्यों के पालन के लिए है।

मैं यह पत्र लिखने तो बैठा था पारिवारिक कर्तव्य के सम्बन्ध में, लेकिन पिछले पत्र की व्यक्तिगत कर्त्तव्य-संबंधी चर्चा पर ही इतना लिख

डाला। जैसे मेरे अपने प्रति कर्तव्य हैं, उसी तरह से अपने परिवार के प्रति भी मेरे कर्तव्य हैं। ब्रह्मचारी के सामने अपनी व्यक्तिगत उन्नति ही आदर्श होता है, लेकिन गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर वह अपने व्यक्तित्व का दायरा कुछ विस्तृत कर लेता है। अपने शरीर और आत्मा की उन्नति से संतुष्ट न होकर अपनी पत्नी, अपने बाल-बच्चे और भाई-बहिन आदि परिवार के सब सदस्यों में आत्मबुद्धि अनुभव करने लगता है। यह उसका विकास है। समाज में परिवार का एक विशेष स्थान है। परिवार समाज या संगठन की सबसे छोटी इकाई है। परिवार सामाजिक या नागरिक शिक्षा का पहला स्कूल है। यह सबसे छोटा समूह है, जहां मनुष्य अपनेसे भिन्न कुछ व्यक्तियों के लिए त्याग करता है, अपने सुख की अपेक्षा वह अपने बाल-बच्चों, अपनी पत्नी आदि के सुख को अहमियत देता है। स्त्री और पुरुष परस्पर कामवासना और व्यक्तिगत प्रेम के कारण एक-दूसरे के प्रति खिंचते हैं और उनके प्रेम की ज़मानत उनको सन्तान है।

कुछ विचारकों के ख़याल से परिवार मनुष्य के और अधिक सामाजिक विकास में रुकावट डालता है। मनुष्य अपने और अपने परिवार की सेवा में मस्त होकर समाज को भूल जाता है, इसलिए परिवार की प्रथा को नष्ट कर देना चाहिए। लेकिन यह एक भ्रम है। योंतो हरेक वस्तु का भी दुरुपयोग किया जासकता है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वह वस्तु ही निरुपयोगी और नुक्सानदेह है। परिवार केवल विषयभोग का साधन नहीं, वह तो आत्मिक विकास की एक सीढ़ी है। मनुष्य समाज की रचना है, इस आश्रम के द्वारा वह समाज के इस ऋण को चुकाने की कोशिश करता है।

परिवार में पति-पत्नी, बाल-बच्चे तथा छोटे भाई-बहन होते

हैं। पति का कर्तव्य है कि वह पत्नी को भोग-विलास की सामग्री न समझकर उसे अपनी जीवन-यात्रा की सहचरी समझे। हिन्दू-शास्त्रों में उसे अर्धाङ्गिनी कहा गया है। किसी भी अच्छे काम में, जिसे हमारे पूर्वज 'यज्ञ' का नाम देते थे, स्त्री की उपस्थिति ज़रूरी थी, क्योंकि दोनों मिलकर समाज के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा करते हैं। राम को यज्ञ के लिए सीता के अभाव में उसकी प्रतिमा ज़रूर रखनी पड़ी। पति स्त्री के सुख और इच्छाओं का आदर करे और पत्नी उसे सुख पहुँचाने की कोशिश करे। दोनों एक-दूसरे के सुख-दुख में साथी हों। आपस में अधिकार की भावना के बजाय कर्तव्य की भावना प्रधान हो। मनुस्मृति ने आदर्श घर का वर्णन करते हुए लिखा है—सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च। यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ दोनों एक-दूसरे के प्रति आत्मसमर्पण का भाव रक्खें। समाज और जीवन में किस का महत्त्व अधिक है यह कहना कठिन है, परन्तु यह निश्चित है कि जीवन में दोनों ज़रूरी हैं, दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। "स्त्री में पत्नी और माता होने के कारण स्नेह, वात्सल्य और कौटुम्बिकता की अधिकता है, तो पुरुष में पति और पोषक पिता होने के कारण तेज, पुरुषार्थ और व्यवसाय की प्रधानता है। दोनों मिलकर पूर्ण बनते हैं। स्त्री उत्साह और जीवन देती है; पुरुष रक्षा करता, आगे बढ़ता, कठिनाइयों को मिटाता, संकटों को चीरता और सफलता पाता है। स्त्री समाज की सेविका है और पुरुष समाज का सिपाही।"

बालक किसी देश के भावी नागरिक हैं। इस दृष्टि से यदि हम उनके शारीरिक, मानसिक विकास की ओर ध्यान दें, हम उन्हें निरे बालक ही न समझें, उनके मनोभावों का भी आदर करें, खेल-कूद

आदि की पूरी सुविधायें उन्हें पहुँचायें, तो बालकों की उन्नति मुमकिन है। बालक अनुकरणशील होता है। इसलिए माता-पिता आदि को खुद भी ऐसे काम न करने चाहिएँ, जिनसे उनके दिल पर बुरा असर पड़े। उत्तम, स्वस्थ, सदाचारी और सुयोग्य सन्तान सबसे बड़ी और उत्तम विरासत है, जो कोई नागरिक अपने राज्य और समाज के लिए छोड़ सकता है। बच्चे के लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा और चाल-चलन की ओर सदा सावधान रहना चाहिए। बालक प्रकृति का दिया हुआ खिलौना, घर का दीपक और समाज की आशा होता है। वह एक ऐसा विशुद्ध दर्पण होता है, जिसपर किसी भी मैल का असर एकदम पड़ जाता है। इसलिए उसे शहर के गन्दे दूषित वातावरण से, जहाँ गालियों और सिनेमा के अश्लील गानों के सिवा कोई अच्छी चीज़ नहीं सुनाई देती, बचाने की कोशिश करनी चाहिए।

"खून पानी से गाढ़ा होता है।" इसलिए रक्त-सम्बन्ध के संबंधी माता, पिता, भाई, बहन, चाचा, मामा आदि के प्रति भी मनुष्य के कुछ फ़र्ज़ हैं। माता-पिता का ऋण तो कभी चुकाया नहीं जा सकता। इनके प्रति नम्रता और अहसानमन्दी का व्यवहार करना चाहिए। मनु ने अभिवादनशील और वयोवृद्धों की सेवा करनेवाले को विद्या, यश, आयु और बल की प्राप्ति का फल लिखा है (२-१२१)। माता वात्सल्य की प्रतिमा है, उससे यह गुण सीखकर समाज के प्रति अपने अमल में लाना चाहिए। वृद्ध-जनों की विचार-दिशा सदा युवकों से भिन्न होती है, इसलिए उन्हें दोष कभी नहीं देना चाहिए। उम्र के साथ यह स्वाभाविक है। आज के युवक भी जब वृद्ध होंगे, उन्हें भी यह अनुभव होगा। भाई-बहन एक ही माता की सन्तान हैं। उनके

लिए भी अपना स्नेह उसी तरह रखना चाहिए। अन्य सम्बंधियों का सुख और हित भी हरेक को देखना चाहिए।

मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि परिवार बन्धन न होकर एक ऐसा स्कूल होना चाहिए, जहाँ हम सहिष्णुता, प्रेम, सेवा, त्याग, दान और उद्यमशीलता के गुण सीखकर समाज की सेवा के लिए तैयार हो सकें। इतिहास में ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिलेंगे, जब लोगों ने देश के हित के लिए पारिवारिक सुख का बलिदान कर दिया है। हज़ारों परिवार—पति-पत्नी और बच्चे १९३०–३१ के भारत के सत्याग्रह-संग्राम में पारिवारिक सुख को लात मारकर एकसाथ कूद पड़े। यह सिद्ध करता है कि परिवार केवल बंधन नहीं है।

: १६ :

शहर या गाँव का इन्तज़ाम

१२-७-३८

पिछले दो पत्रों में मैंने मनुष्य के अपने और अपने परिवार के प्रति कर्तव्यों पर कुछ विचार प्रकट किये थे। परिवार के साथ मेरा या किसी भी मनुष्य का प्राणि-विज्ञान-सम्बन्धी रक्त का सम्बन्ध है, परन्तु इससे अगली संस्था, जिससे मेरा नागरिक सम्बन्ध है, बिलकुल ही जुदी तरह की है। वह अपने रूप और कार्यक्षेत्र में देशीय तथा राजनैतिक है। यह संस्था मेरा गाँव या नगर है और यही राजनैतिक संगठन की पहली संस्था है। यहाँ मनुष्य पारिवारिक रूप में— माता, पिता, भाई या बहन के रूप में सदस्य न होकर नागरिक के रूप में उसका सदस्य है। नागरिकता का यह बन्धन ही मनुष्य को सभ्यता के पद पर बिठाता है। 'सिविक्स' (नागरिकशास्त्र) और सिविलाइज़ेशन (सभ्यता) एक ही शब्द से बने हैं, इसीलिए कुछ विद्वान् सिविक्स को सभ्यता का विज्ञान भी कहते हैं। मनुष्य के कार्य का दायरा ग्राम या नगर है। मनुष्य पृथ्वी के इस छोटे-से भाग से, जहाँ वह पैदा हुआ है या जहाँ वह बरसों रहकर उसे अपना घर मानने लगा है, प्रेम करने लगता है। इस गाँव या 'राजनैतिक घर' को बनानेवाले सभी सड़कों, खेतों, चरागाहों, पहाड़ियों और नदियों से भी उसे खुद ही प्रेम होजाता है। इस गाँव या नगर के प्रबन्ध में भी उसकी दिलचस्पी होना स्वाभाविक है, क्योंकि उसके सारे जीवन और जीवन से ताल्लुक़ रखनेवाली छोटी-छोटी बातों पर ग्राम के इन्तज़ाम

का असर पड़ता है। मैंने पिछले पत्रों में नागरिक के शासनाधिकार का विचार किया है। मनुष्य जिस समाज का अंग है, उसके इन्तज़ाम में भी उसका भाग ज़रूर होना चाहिए; नहीं तो मुमकिन है कि वह समाज उसके अधिकारों और हितों की उपेक्षा करने लगे। गाँव या शहर वह सबसे छोटी इकाई है, जो नागरिक के जीवन पर सबसे ज़्यादा गहरा असर डालती है। गाँव या शहर का शासन भी सब लोग मिलकर नहीं कर सकते, इसलिए वहाँके निवासियों के प्रतिनिधियों की एक कमेटी पर यह काम सौंप दिया जाता है। इसे आजकल 'म्युनिसिपल कमेटी' कहते हैं। पहले हिन्दुस्तान में इसे ही 'पंचायत' कहते थे। आज भी बहुत-से गाँवों में पंचायतें गाँव का प्रबन्ध करती हैं। सिविक्स या नागरिकशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि ग्रामपंचायतों या म्यूनिसिपल कमेटियों के शासन-प्रबन्ध में ऊपरी सरकार की कम-से-कम दस्तन्दाज़ी हो। इस हस्ताक्षेप का मतलब है जनता के अधिकारों पर हमला। पंचायतों या म्युनिसिपल कमेटियों को यथासम्भव ज़्यादा अधिकार देने का नतीजा यह होता है कि पंचायतें या म्युनिसिपल कमेटियों के, जिन्हें 'स्थानीय शासन-संस्था' कहा जाता है, सदस्य अपने 'राजनैतिक घर' के प्रबन्ध में खूब दिलचस्पी ले सकते हैं। भारतीय पंचायतों के इसी गुण का भारतीय जनता पर कितना गहरा असर पड़ा, यह सर जार्ज बर्डवुड के नीचे लिखे उद्धरण से मालूम होगा :—

"भारत में जितनी धार्मिक और राजनैतिक क्रान्तियाँ हुई हैं, उतनी संसार के दूसरे किसी देश में नहीं हुईं। परन्तु यह होते हुए भी ग्राम-संस्थाओं की अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, वे उसी उत्साह और शक्ति के साथ काम करती रहीं। सीरियन, ग्रीक, सरा-

सीन, अफ़ग़ान, मुग़ल और मराठे पहाड़ों से आये तथा पोर्चुगीज़, अंग्रेज़, फ्रेंच और डेन समुद्र की तरफ़ से आये और यहाँ अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु उनके आने और चले जाने से यहाँ की धार्मिक और व्यापारिक ग्रामसंस्थाओं पर उतना ही प्रभाव पड़ा, जितना कि एक चट्टान पर लहरों के आने और चले जाने का पड़ता है।"

सर चार्ल्स मेटकाफ़ के शब्दों में "यही ग्राम-संस्थायें, जिनमें से प्रत्येक एक पृथक् राज्य की तरह हैं, भारतीय जनता की रक्षा में सबसे अधिक कारण हैं। इन्हींके ज़रिये सब परिवर्तनों और क्रान्तियों में जनता की हिफ़ाज़त होती रही। उनको जो कुछ प्रसन्नता स्वतन्त्रता आदि प्राप्त हैं, उनमें सबके लिए यही सबसे अधिक सहायक हैं।"

अलग-अलग भौगोलिक परिस्थिति, भिन्न-भिन्न संस्कृति, रहन-सहन, भाषा और जुदे-जुदे न्याय-धन्धे आदि के कारण प्रान्त, ज़िला या ग्राम की ज़रूरतें और समस्यायें भी अलग-अलग होती हैं। इनमें सारे देश के प्रतिनिधियों को कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती। उनका देश-द्वारा नियंत्रण तो स्थानीय जनता पर अत्याचार ही है। केवल स्थानीय लोग ही अपने मामलों में दिलचस्पी लेते हैं, इसीलिए स्थानिक शासनसमिति या पंचायत की स्वतन्त्र सत्ता आवश्यक है, जो स्थानीय समस्याओं को हल करे। स्थानीय मामलों में इन्हें काफ़ी अधिकार देना भी इसीलिए ज़रूरी है कि ये ज़रूरत के मुताबिक़ अपना इन्तज़ाम खुद करलें। फिर स्थानीय आवश्यकताओं के लिए दूर के लोग क्यों टैक्स दें? हरेक अपने आराम के लिए तो टैक्स आसानी से दे देता है, लेकिन सहारनपुर ज़िले का रहनेवाला

बनारसी नागरिक की प्याऊ या डिस्पेंसरी के लिए क्यों टैक्स से लादा जाना पसन्द करेगा ?

हरेक नागरिक को यह महसूस करना चाहिए कि वह अपने गाँव या शहर की प्रबन्ध-कमेटी का एक लाज़मी अंग है। उसे अपने गाँव या शहर की हरेक बात में पूरी दिलचस्पी लेनी चाहिए। जबतक आम जनता इन बातों में दिलचस्पी लेती है, तबतक स्थानीय प्रबन्ध भी ठीक चलता है। जहाँ आम लोगों ने दिलचस्पी लेनी बन्द की, वहाँ कुछ थोड़े-से लोग, जिनके हाथ में इन्तज़ाम का काम होता है, अपने-अपने स्वार्थ के साधन में लग जाते हैं। शहर की हरेक घटना या नियम में हरेक नागरिक की सम्मति लेना नामुमकिन होता है, इसलिए लोगों के नुमाइन्दों की कमेटी को ये काम सुपुर्द कर दिये जाते हैं। लेकिन इससे आम नागरिकों का कर्तव्य ख़त्म नहीं होजाता। उनका सबसे पहला फ़र्ज़ यह है कि वे अपने प्रतिनिधियों के चुनाव में पूरी दिलचस्पी लें। आजकल चुनाव के तरीकों में कुछ ऐसी ख़राबियाँ आगई हैं, जिनसे चुनाव ही फ़िज़ूल-सा होजाता है। चुनाव के समय नागरिकों को नीचे लिखी बातों का खूब ध्यान रखना चाहिए :—

१—उम्मीदवार योग्य और व्यवहार-कुशल हो, शहर की सब सम्बद्ध समस्याओं से परिचित हो।

२—उम्मीदवार में खुदग़रज़ी की बनिस्बत दूसरे का भला करने या जन-सेवा का भाव ज़्यादा हो।

३—उम्मीदवार में जातिगत भावना न हो। जो उम्मीदवार एक या दूसरी जाति के साम्प्रदायिक भावों को भड़काकर वोट पाना चाहता है, वह अपने शहर का बहुत बड़ा दुश्मन है। जो व्यक्ति पैसा या

दूसरे लालच देकर वोट लेने की कोशिश करता है, वह पापी है; ज़रूर वह कमेटी में स्वार्थसिद्धि के लिए जाना चाहता है। वह न केवल अपना स्वार्थ-साधन करता है, बल्कि वह नागरिकों के चारित्रिक पतन का भी जिम्मेदार है। बहुत-से नागरिक दो-चार या दस रुपये लेकर किसी अयोग्य उम्मीदवार को वोट दे देते हैं। ऐसे लोग दर-असल देशद्रोह या देश के साथ विश्वासघात जैसा पाप करते हैं। उन्होंने दो-चार या दस रुपये में अपने गाँव या शहर का हित बेच दिया। अगर वे किसी योग्य ईमानदार उम्मीदवार को वोट देते, तो वह स्वार्थ के बजाय शहर या गाँव के हित को तरजीह देता। एकबार निकम्मे, ख़ुदगर्ज़ और अयोग्य व्यक्तियों को पंचायत में भेजकर नया चुनाव आने तक—तीन-चार साल तक—नागरिकों को पछताना पड़ता है। न शहर की सफ़ाई होती है, न रोशनी का ठीक इन्तज़ाम होता है और न बच्चों की पढ़ाई ही ठीक होती है। वोट का हक़ एक ऐसी पवित्र धरोहर है, जिसे समाज ने सदियों की लड़ाई के बाद हासिल किया है और प्रत्येक नागरिक को इसलिए सौंपा है कि वह उसका समाज के फ़ायदे के लिए उपयोग करे। उसका दुरुपयोग पाप है। सब उन्नत सभ्य देशों में बालिग मात्र को वोट देने का अधिकार होता है। किसी किसी देश में एक ख़ास उम्र के बाद वोट देने का अधिकार मिलता है। रूस, टर्की और अर्जेण्टाइन में १८, जर्मनी और स्विट्ज़र-लैण्ड में २०, अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और भारत में २१, नार्वे में २३, डेनमार्क और जापान में २५ साल की उम्र में वोट देने का अधिकार है। बहुत से-देशों में अबतक भी बालिग मात्र को मताधिकार न देकर शिक्षा और सम्पत्ति की योग्यता पर अधिकार दिया जाता है। बद-क़िस्मती से अभीतक हिन्दुस्तान भी इसी श्रेणी में है। इस सम्बन्ध

९

में कुछ विवेचन मैं अपने पिछले एक पत्र में कर चुका हूँ। बहुत-से नागरिक चुनाव के समय अपना मत ही नहीं देते, वे उदासीन हो जाते हैं। लेकिन यह उदासीनता भी एक पाप है, क्योंकि इसका अर्थ है समाज के उस अधिकार या कर्तव्य का प्रयोग न करना, जो हरेक नागरिक को सौंपा गया है। आम लोगों के दिलचस्पी न लेने का नतीजा यह होगा कि स्वार्थी लोग पंचायत या कमेटी में घुस आयँगे। कई देशों में इसीलिए मत देना लाज़मी बना दिया गया है और मत न देनेवाले को सज़ा दी जाती है। आस्ट्रेलिया में वोट न देने पर जुर्माना देना पड़ता है। चेकोस्लोवाकिया, कनाडा और आरजेण्टाइन में भी मत देना अनिवार्य किया गया है।

स्थानीय स्वराज्य, जिसे अंग्रेज़ी में 'लोकल सेल्फ़ गवर्नमेण्ट' कहते हैं, गाँवों और शहरों की आबादी के अनुसार जुदे-जुदे भागों में बटा हुआ होता है। हिन्दुस्तान में इसे दो भागों में बाँटा गया है, देहाती और शहरी। देहाती शासन को भी पंजाब में तीन भागों में बाँटा गया है। गाँवों में पंचायत, तहसील या सब-डिवीज़न में लोकल बोर्ड, ज़िले में ज़िला-बोर्ड पर स्थानीय शासन की जिम्मेदारी सौंपी जाती है। ये तीनों संस्थायें देहात में ही काम करती हैं। शहरी शासन भी छोटे-बड़े शहर के ख़याल से तीन हिस्सों में बँटा होता है—छोटे क़स्बों में नोटिफ़ाइड एरिया, बड़े क़स्बों या शहरों में म्युनिसिपल कमेटी और बहुत बड़े शहरों में कारपोरेशन।

इन सब संस्थाओं में ज्यादातर सदस्य जनता द्वारा चुने जाते हैं और कुछ सरकार द्वारा नामज़द होते हैं। प्रजातंत्र के असूल के अनुसार सरकार का यह हस्तक्षेप भी अनुचित है। कई प्रान्तों की नई कांग्रेसी सरकारें नामज़द करने की प्रथा को हटा भी रही हैं

और शायद कुछ सालों में सारे देश में स्थानीय स्वराज्य सम्बन्धी मामलों में सरकार का हस्तक्षेप और भी कम होजायगा। प्रायः सब संस्थाओं को अपना ग़ैरसरकारी अध्यक्ष चुनने का अधिकार होता है, यद्यपि अभीतक भी यह अधिकार पूरी तौर से इस्तेमाल में नहीं लाया जाता। पंचायतों का जितना प्रचार होना चाहिए अभी उतना नहीं हुआ है, और फिर पंचायतों को अधिकार भी बहुत कम हासिल हैं। इसका अर्थ यह है कि भारत के ९० फ़ीसदी लोगों को अभीतक भी स्थानीय स्वराज्य प्राप्त नहीं हुआ। काँग्रेसी सरकारें इस दिशा में क़दम बढ़ा रही हैं, यह तुमसे छिपा नहीं है। इन पंचायतों के ज़िम्मे जहाँ काम बहुत-से होंगे, वहाँ इनके अधिकार भी बहुत-से होंगे। गाँव की सफ़ाई, शिक्षा, रोशनी और छोटे-छोटे मुक़दमे सुनना पंचायतों का काम है और इसके लिए उन्हें थोड़ा-बहुत टैक्स वसूल करने का अधिकार भी होता है।

तहसील के छोटे-छोटे गाँवों में, जहाँ पंचायतें नहीं होतीं, सफ़ाई, रोशनी आदि का काम लोकल बोर्डों के सुपुर्द किया जाता है, लेकिन वस्तुतः जिला-बोर्ड व पंचायत के बीच की एक शृंखला मात्र होने की वजह से ये बोर्ड महत्त्व प्राप्त नहीं कर सके। ज़िला बोर्ड, जो ज़िले के सब गाँवों का प्रबन्ध करता है, काफ़ी महत्त्वपूर्ण संस्था है। इसमें सारे ज़िले के प्रतिनिधि होते हैं। आजकल के प्रतिनिधियों को दर-असल ज़िले का सच्चा प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये मतदाताओं के अज्ञान से लाभ उठाकर या उनपर अनुचित दबाव डालकर चुने गये होते हैं। ज़िला-बोर्ड के पास नीचे लिखे काम होते हैं:—

सड़कों और छोटे-छोटे रास्तों का बनाना व मरम्मत—स्कूल

और शफ़ाख़ाने—सड़कों पर दरख़्त लगाना--खेती के लिए बाँध, पुल, नहरें, कुए और तालाब बनवाना—विवाह, जन्म और मृत्यु का रजिस्टर रखना—दस्तकारी तथा खेती को प्रोत्साहन--अकाल के समय लोगों को सहायता—प्लेग, हैज़ा, चेचक आदि रोगों के निवारण का इन्तज़ाम-यात्रियों के लिए सरायें बनवाना--पशुओं की नस्ल में सुधार वग़ैरह। इन कामों को करने के लिए ज़िला-बोर्ड स्थानीय कर, विद्यार्थियों की फ़ीस, दरख़्तों की आमदनी, पुलों आदि के ठेके, हैसियत टैक्स आदि से पैसा वसूल करता है।

जुदे-जुदे प्रांतों में ये देहाती स्वराज्य संस्थायें जुदा-जुदा प्रकार से बँटी हुई हैं। कहीं तीन प्रकार के बोर्ड हैं—ग्राम, तहसील और ज़िला, तो बम्बई में सिर्फ़ ज़िला बोर्ड व ताल्लुका बोर्ड ही हैं। किसी-किसी प्रान्त में ज़िला बोर्ड को ही ज़िला कौंसिल भी कहते हैं।

नोटिफ़ाइड एरिया कमेटी छोटे शहरों के प्रबन्ध के लिए सफ़ाई, स्वास्थ्य और शिक्षा का काम करती है। बाज़ारों, गली-कूचों, नालियों और कुओं का बनाना, मरम्मत करना और श्मशान व क़ब्रिस्तान आदि की व्यवस्था भी इसीके ज़िम्मे होती हैं।

म्युनिसिपल कमेटी के कर्तव्य इस प्रकार के होते हैं:—

शहर की सफ़ाई--पानी के लिए वाटरवर्क्स—रोशनी—हस्पताल खोलना—महामारियों का रोकना-गन्दे पानी के निकास के लिए नालियाँ बनवाना—स्कूल, पुस्तकालय और वाचनालय खोलना—श्मशान व क़ब्रिस्तान की देख रेख—मकानों का बनवाना—ताँगों और मोटरों की देखरेख—आग बुझाने का प्रबन्ध—ख़तरनाक इमारतों का गिराना—लोगों के मनोरंजन के लिए बाग़ आदि बनवाना—सड़कों का निर्माण व मरम्मत। म्युनिसिपल कमेटी को

अपना ख़र्च निकालने के लिए कई प्रकार के टैक्स लगाने के भी अधिकार हैं। इनमें से ख़ास-ख़ास ये हैं:—

शहर में आनेवाले सामान पर चुंगी—हाउस टैक्स—पानी के नलों पर महसूल—ताँगों व मोटरों का टैक्स—रोशनी का टैक्स—दरख़्तों की आमदनी आदि। कारपोरेशन सारे हिन्दुस्तान में सिर्फ़ चार शहरों—कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और कराची में ही है। इसे बहुत अधिकार होते हैं।

ब्रिटिश भारत में सब म्युनिसिपैलिटियों व कारपोरेशनों की संख्या १६३१-३२ में ७२७ थी। (इसके बाद के अंक नहीं मिल सके।) इनके कुल सदस्य १२२२४ थे, जिनमें से ६६२ सरकार द्वारा नामज़द थे। उक्त वर्ष इनकी आमदनी (कर्ज़ मिलाकर) ३४ करोड़ रुपया थी। लेकिन बम्बई, कलकत्ता और मद्रास की २२ करोड़ की आमदनी निकालने से बाक़ी ७२४ म्युनिसिपैलिटियों की आय सिर्फ़ १२ करोड़ रह जाती है। कुछ बड़े शहरों में उन्नति या सुधार के लिए इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट भी बनाये गये हैं। बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, कराची आदि बन्दरगाहों का स्थानीय प्रबंध करने के लिए पोर्ट ट्रस्ट भी बनाये गये हैं, लेकिन उनपर जनता का नियंत्रण बहुत कम है। इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट भी ज़्यादातर सरकारी नियंत्रण में काम करते हैं। म्युनिसिपैलिटियों की भी हालत बहुत अच्छी नहीं है। बहुत कम म्युनिसिपल कमेटियाँ सरकार के नाजायज़ दबाव से अपनेको बचा पाती हैं।

यदि तुम दूसरे उन्नत राष्ट्रों की स्थानीय संस्थाओं का हाल पढ़ोगे तो तुम्हें मालूम होगा कि भारत की स्थानीय संस्थायें बहुत पिछड़ी हुई हैं। फ्रांस, ब्रिटेन अमेरिका आदि देशों में स्वास्थ्य, चिकित्सा, शिक्षा, रोशनी, सफ़ाई आदि के अतिरिक्त अमन व शान्ति क़ायम

रखना, चोरियों तथा बदमाशियों को रोकना, पुलिस और साधारण न्याय के काम तक स्थानीय संस्थाओं के समझे जाते हैं। इंग्लैण्ड में तो स्थानीय शासन का सब अधिकार स्थानीय संस्थाओं ही के पास है। इन संस्थाओं में जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों के हाथ में ही ये सब कार्य होते हैं। सरकार वहाँ स्थानीय शासन में दख़ल ही नहीं देती। पुलिस, अस्पताल, सफ़ाई आदि महक़मों के छोटे-बड़े अफ़सर स्थानीय संस्थाओं से ही वेतन पाते हैं; वे नागरिकों द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों के सामने ही जवाबदेह होते हैं और उन्हीं का उनपर पूरा नियन्त्रण होता है। वहाँ पर कमिश्नर, कलक्टर, पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट, थानेदार, तहसीलदार आदि ऐसे कोई सरकारी अफ़सर शहर के मामलों में दस्तंदाज़ी करने के लिए नहीं हैं। मन्त्रिमण्डल के मन्त्री स्थानीय संस्थाओं की देखभाल व सरकारी अफ़सरों द्वारा परामर्श लेते रहते हैं, लेकिन उनके अधिकार में हस्तक्षेप नहीं करते। दरअसल स्थानीय स्वशासन का इसके सिवा कोई अर्थ भी नहीं है। भारत के वायसराय लार्ड रिपन ने १८८२ में ठीक ही कहा था कि-- "इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि देश की उन्नति के लिए सबसे उत्तम उपाय यही है कि जनता का शासन जनता के ही हाथ में दे दिया जावे। केवल थोड़े-से वही विषय केन्द्रीय सरकार के हाथ में छोड़ दिये जावें कि जिनके लिए साम्राज्य के हित में ऐसा करना लाज़मी हो।" लेकिन लार्ड रिपन की उदार नीति उन्हीं के साथ ख़तम होगई और स्थानीय स्वराज्य को हिन्दुस्तान में विकसित करने की उनकी योजना न चल सकी। १९१२ ई० में श्री गोपालकृष्ण गोखले ने स्थानीय समितियों के अधिकार बढ़ाने के सम्बन्ध में एक बिल पेश किया, लेकिन सरकर ने उसे स्वीकृत नहीं किया। आजतक भी ज़िलाधीश

ज़िले भर में सरकार का निरंकुश अधिकारी बना हुआ है। आशा है, कांग्रेसी प्रान्तीय सरकारें अब स्थानीय शासन में क्रान्तिकारी परिवर्तन करेंगी।

नागरिकों का फ़र्ज़ है कि वे इन सब संस्थाओं में पूरी दिलचस्पी लें। जब ये संस्थायें उनपर टैक्स लगाती हैं और नये-नये क़ायदे-क़ानून जारी करती हैं, तब नागरिकों का भी फ़र्ज़ है कि वे यह देखें कि कोई नाजायज़ टैक्स तो नहीं लगाया गया, उनसे लिये गये रुपये का इस्तेमाल तो जायज़ हुआ है, उनकी सभी उचित ज़रूरतों को पूरा किया गया है या नहीं।

इसके सिवा नागरिकों का एक कर्तव्य और भी है, और वह यह कि वे इन संस्थाओं के काम में पूरी मदद दें। कमेटी के क़ानून बना देने या सफ़ाई के लिए कुछ नौकर रख देने से ही काम नहीं हो जायगा, जबतक कि जनता या नागरिक उसे इस काम में सहयोग न दें। लेकिन इसकी चर्चा तो मैं अगले पत्र में करूँगा।

: १७ :

गाँव और उसके नागरिक

१७-७-३८

मैं कल ही गाँव से लौटा हूँ। सुभास के मामा तो ईश्वर की कृपा से स्वस्थ हो गये, लेकिन तुम्हें यह जानकर दुःख होगा कि मेरे एक घनिष्ठ मित्र ला० नन्दकिशोर का, जिनसे शायद तुम भी वाक़िफ़ होगे, देहान्त होगया। वह कुछ दिन पहले भले-चंगे और तन्दुरुस्त थे। अभी तो दिल्ली में मुझसे मिलकर गाँव गये थे। उनकी इस बीमारी का कारण मलेरिया था। उनके घर के पास एक छोटा-सा गढ़ा था। उसमें आसपास के लोग कूड़ा-कचरा डालते थे। तुम भी उस गाँव में जा चुके हो, तुमने वह गढ़ा ज़रूर देखा होगा। मैंने उन्हें कई दफ़ा उस गढ़े को बन्द करने व सफ़ाई रखने के लिए कहा। वह कुछ-कुछ तैयार भी थे। उन्होंने दो-एक बार सफ़ाई कराई भी, लेकिन उन्हें इसमें सफलता न हुई। इसका कारण था उनके पड़ोसियों का हठ। वे वहाँ कूड़ा-कचरा फेंकते रहे और घर का गन्दा पानी भी उसी गढ़े में डालते रहे। फल यह हुआ कि वह गढ़ा गन्दे-गन्दे कीड़ों और मच्छरों का घर बन गया। इस बरसात में वह गढ़ा और भी लम्बा-चौड़ा हो गया। उसमें सड़ाँद और बदबू इतनी ज़्यादा होगई कि उसके पास से गुज़रना कठिन होगया। इसीसे आसपास मलेरिया फैल गया। लाला नन्दकिशोर और दो पड़ोसियों के बालक तो गुज़र भी गये। अब जाकर—तीन के बलि होने के बाद—गाँववालों को समझ आई और गढ़ा साफ़ कराके भर दिया गया।

यह उसी गाँव की घटना नहीं है, भारतवर्ष के ७० लाख गाँवों और शहरों का भी यही हाल है। लोग यह नहीं समझते कि गाँव या शहर की सफ़ाई में उनका भी कोई फ़र्ज़ है। इसी फ़र्ज़ की ओर मैं पिछले पत्र में ध्यान खींचनेवाला था। यदि कोई पंचायत या म्युनिसिपल कमेटी सफ़ाई के लिए थोड़े-से भंगी रख देती है, तो वे किसी काम नहीं आ सकते, जबतक कि नागरिकों का उन्हें सहयोग न मिले। इस सम्बन्ध में केवल गाँववाले ही नहीं, पढ़े-लिखे शहरी भी भारी अपराध के दोषी हैं।

कभी किसी गाँव में चले जाओ--तुम तो गाँव में रहते ही हो—कितना बुरा दृश्य दीखता है। गलियों में कूड़े के ढेर लगे रहते हैं, सड़ा-गला भोजन वहाँ बदबू कर रहा है, जो लोग मांस खाते हैं वे मांस के घिनौने टुकड़े और हड्डियाँ गली में फेंक देते हैं, जगह-जगह बालकों के पेशाब और टट्टी के नज़ारे दीख रहे हैं। नालियाँ एक तो होंगी नहीं, और जो होंगी उनकी सफ़ाई न होगी। नालियों में ईंट-पत्थर, फटे कपड़े सब डाल दिये जाते हैं। कुए और तालाब, जहाँसे पीने का पानी लिया जाता है, रोगियों के मैले-कुचेले कपड़े धोने के कारण ज़हरीले होगये हैं। जहाँ गाय-बैल बाँधे जाते हैं, वहाँ उनके पेशाब और गोबर से योंही गन्दगी बनी रहती है। अक्सर मकानों के आसपास ही गड्ढे होते हैं, जिनमें बरसाती पानी भरा रहता है, काई जमी रहती है और लकड़ी, पत्तियाँ व कभी-कभी मैला भी बहता रहता है। लोग उसीमें आबदस्त लेते हैं, कुल्ला करते हैं, मिट्टी मल-मलकर हाथ धोते हैं और लोटा माँजते हैं। इसी पानी में मच्छर का परिवार बढ़कर बीमारी फैलाता है। गलियों में सड़नेवाले मैले पर मक्खियाँ भिनकती रहती हैं और अपने गन्दे पाँव लेकर वे बस्ती के भीतर

खाने की चीज़ों पर बैठती हैं। शहरों में हालांकि इतनी बुरी हालत नहीं है, लेकिन वहाँ सफ़ाई का जितना इन्तज़ाम होता है उसके मुक़ाबिले में सफ़ाई बहुत कम होती है। वहाँ भी पक्की नालियों में बालक टट्टी-पेशाब करते हैं, भंगी के सफ़ाई कर चुकने के बाद एकदम गलियों में कूड़ा-करकट डाल दिया जाता है। पेशाब-घरों में पेशाब न करके सड़कें और गलियाँ गन्दी कर दी जाती हैं। लोग बाजारों में चलते-चलते फल खाते जाते हैं और छिलके फेंकते जाते हैं, उन्हें यह परवा नहीं कि केले के छिलके रास्ते में गिराने से कभी-कभी कितनी भीषण दुर्घटना हो जाती है। किसीको क़ै आती है, तो वह बाज़ार में ही घिनौना नज़ारा पैदा कर देता है। कहने का मतलब यह है कि नागरिक सफ़ाई से इतने अधिक उदासीन हैं कि कुछ पूछो मत! इसमें हमारी कितनी हानि है, यह वे सोचते तक नहीं। कभी रेलगाड़ी के थर्ड क्लास के डब्बे में सफ़र तो करो। उसीमें यात्री थूकते हैं, छिलके फेंकते हैं, पानी डाल देते हैं, मातायें बच्चों को पेशाब करा देती हैं और डब्बा बैठने लायक़ नहीं रहता।

नागरिकों का प्रधान कर्तव्य है कि वे सफ़ाई के नियमों को जानें और उनका पालन करें। लोगों की यह गन्दी आदत छुड़ाने में बहुत समय लगेगा और शुरू में तो स्वयं फावड़ा-झाड़ू हाथ में लेकर गाँव के मार्गों की सफ़ाई करनी होगी, पाखाने मिट्टी से ढकने होंगे, नालियाँ साफ़ करनी होंगी तथा कूड़ा उठाना होगा। कुछ स्वयंसेवक या समझदार नागरिक यदि शुरू में खुद सफ़ाई करने लगें तो शेष नासमझ नागरिक भी धीरे-धीरे सफ़ाई के महत्त्व को समझ जावेंगे और सफ़ाई के काम में मदद देने लगेंगे।

फिर गलियों और सड़कों में जो कूड़ा फेंक दिया जाता है, उसकी

यदि क़ीमत लगाई जाय, तो करोड़ों रुपया साल बैठेगी। विदेशों में कुछ म्युनिसिपल कमेटियों ने इधर ध्यान दिया है और वे लाखों रुपया कमाने लगी हैं। गलियों और सड़कों के कूड़े के वर्गीकरण से तुम्हें मालूम होगा कि उसका कुछ हिस्सा बढ़िया खाद बनाने के काम आ सकता है, कुछ सिर्फ़ जमीन में दफ़न कर देने के ही क़ाबिल होगा और कुछ का तुरन्त ही आर्थिक लाभ देने वाला उपयोग हो सकेगा। हड्डी का प्रत्येक टुकड़ा यदि बीन लिया जाय, तो कितने ही उपयोगी सामान बनाने के लिए वह कीमती सिद्ध होगा या पीसने पर वह बहुत बढ़िया खाद बनेगा। चिथड़े और रद्दी कागज़ों का कागज़ बनाया जा सकता है और जगह-जगह से इकट्ठा किया गया पाख़ाना खेतों के लिए स्वर्णमय खाद है। मलमूत्र को उपयोगी बनाने के लिए उसको मिट्टी में मिलाकर ज़्यादा-से-ज़्यादा एक फुट गहरा गढ़ा खोद कर उसमें दबा देना चाहिए। ज़मीन की ऊपरी सतह सूक्ष्म जीवों से भरी रहती है और हवा तथा रोशनी की मदद से, जोकि वहाँ आसानी से पहुँच जाते हैं, ये जीव इस मलमूत्र को एक हफ्ते के अन्दर बढ़िया और मुलायम मिट्टी का रूप दे देते हैं। यह काम दो तरह से हो सकता है। या तो पाख़ाने बनाकर उनमें मिट्टी के गमले या लोहे की बाल्टियाँ रख दी जायँ और रोज़ उन्हें इसके लिए पहले से अच्छी तरह तैयार की गई जमीन में खाली कर दिया जाय और या खेत में चौरस गढ़ा खोदकर उसीमें शौच किया जाय। मलमूत्र या तो गाँव के सामूहिक खेतों में गाड़ा जा सकता है या अपने-अपने निजी खेतों में। यह सिर्फ़ ग्रामवासी नागरिकों के सहयोग से ही सम्भव है। आजकल तो यह सारी क़ीमती खाद, जो लाखों रुपयों की होती है, रोज़ बरबाद होती है और बदले में हवा को गन्दा करती तथा बीमा-

रियाँ फैलाती हैं। कूड़े-करकट में मिले लोहे की चीजों से ही विदेशी म्युनिसिपल कमेटियों ने काफ़ी रुपया कमाया है। मेरी इच्छा थी कि इस सम्बन्ध में तुम्हें कुछ विस्तार से सूचनायें दूँ, लेकिन इससे पत्र बहुत बड़ा होजायगा। गाँधीजी ने गाँवों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में बहुत-कुछ विचार किया है। तुम उनका साहित्य पढ़ोगे, तो तुम्हें बहुत-सी काम की बातें मिलेंगी।[1]

तुम्हें शायद यह जानकर ताज्जुब होगा कि आज से २२०० वर्ष पहले मौर्य चन्द्रगुप्त के काल में सार्वजनिक स्वास्थ्य पर बहुत ध्यान दिया जाता था। कौटिल्य अर्थशास्त्र के नागरिक प्रणिधि के प्रकरण में चाणक्य लिखते हैं कि—"गली में कूड़ा फेंकने पर $\frac{1}{8}$ पण और सड़क पर कीचड़ फेंकने पर या कहीं कीचड़ व पानी रोक रखने पर $\frac{1}{4}$ पण जुर्माना किया जाय। यदि यही अपराध राजमार्ग पर किये जावें, तो इससे दुगुना जुर्माना किया जावे। पुण्य-स्थान, जल रखने के स्थान, मन्दिर, राजमार्ग तथा राजप्रासाद के पास पाख़ाना करने पर एक पण से ऊपर तथा पेशाब करने पर आधा दण्ड मिलना चाहिए। परन्तु यदि ये कृत्य दवाई, बीमारी या भय के कारण किये गये हों, तो कुछ भी सज़ा न दी जाय। मरे हुए बिलाव, कुत्ते, नेवले तथा साँप को नगर के बीच में फेंक देने पर तीन पण जुर्माना किया जाय। मरे हुए गधे, ऊँट, खच्चर, घोड़े तथा दूसरे पशु को शहर के बीच में फेंक देने पर छः पण तथा मरे हुए मनुष्य की लाश को फेंक देने पर ५० पण जुर्माना किया जाय।.........अगर मुर्दे

१. देखिए—ग्राम-सेवा (म० गाँधी) मू० ־)
गाँवों का सुधार और संगठन (रामदास गौड़) मू० १)
दोनों के प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

को श्मशान के सिवा किसी अन्य स्थान पर रख दिया जाय या जला दिया जावे, तो १२ पण जुर्माना किया जावे।"

स्वास्थ्य-सम्बन्धी कर्तव्यों के अलावा नागरिकों के कुछ और भी कर्तव्य हैं, जिनके न करने से स्थानीय स्वराज्य-संस्थायें अपना काम नहीं कर सकतीं। अगर नागरिक अपनी सन्तानों को स्कूलों में न भेजें, तो शिक्षा के लिए हज़ारों कोशिशें भी कामयाब नहीं हो सकतीं। यदि प्रत्येक नागरिक म्युनिसिपल कमेटी के टैक्स देना अपना फ़र्ज़ न समझे, तो कमेटी पैसा न होने की वजह से बहुत-से काम न कर सके। जबतक दोनों पहिये एकसाथ न चलें, गाड़ी का चलना कठिन होजाता है। राज्य भी, चाहे वह स्थानीय संस्था के रूप में हो या प्रान्तीय और राष्ट्रीय सरकार के रूप में एक गाड़ी है, जिसके सरकार और नागरिक ये दो पहिये हैं। गाँव, ज़िला, प्रान्त या देश की उन्नति के लिए ज़रूरी है कि दोनों ही अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करें। जिस प्रकार म्युनिसिपल कमेटी और सरकार का कर्तव्य नागरिकों की उन्नति है, उसी तरह नागरिकों का फ़र्ज़ है कि वे उसके बनाये क़ानूनों का पालन किया करें और आवश्यकता के अनुसार उसकी सहायता करते रहें।

प्रत्येक नागरिक को यह बात अपने सामने रखनी चाहिए कि नागरिकता का आदर्श प्रत्येक समय एक-दूसरे की सहायता करना है। यदि पड़ोसी के घर में आग लगी हो तो मेरा फ़र्ज़ है कि मैं उसकी मदद करूँ। बाढ़ आदि दैवी विपत्ति आने पर छूत-अछूत, हिन्दू-मुसलमान, शत्रु-मित्र, स्त्री-पुरुष, सब भेदभाव और लाज-परदा छोड़-कर विपत्ति-निवारण के काम में लग जाना चाहिए। हमारे स्मृति-कारों ने समाज की एक शरीर से उपमा दी है, जिसमें विविध वर्ण

उसके जुदा-जुदा अंग बताये हैं। कल्पना तो करो कि यदि शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में परस्पर सहयोग न हो तो शरीर का काम कैसे चलेगा? अगर मुँह भोजन का स्वाद लेकर पेट में न पहुँचाये या मुख पर मक्खी बैठने पर हाथ न उड़ाये, या भोजन-प्राप्ति के लिए पैर चलने से और हाथ काम करने से इन्कार कर दे, तो शरीर का कोई भी काम न चले। सबके सहयोगपूर्वक काम करने पर काफ़ी पहले से ज़ोर दिया जाता रहा है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में लिखा है कि जब ग्रामिक (ग्राम का मुखिया) सारे गाँव के लिए किसी काम पर जावे तो ग्रामवासियों को वारी-वारी से उसके साथ जाना होगा। ऐसा न करनेवाले पर जुर्माना किया जाय।[1]

एक-दो बातों का और निर्देश करके यह पत्र समाप्त कर दूँगा। लोगों को गाँव का सामूहिक रूप से चारित्रिक और आर्थिक स्टैण्डर्ड ऊँचा करने की ओर भी ध्यान देना चाहिए। कुछ ऐसी बुराइयाँ हैं जिनके कारण सारे गाँव की उन्नति नहीं हो पाती। आमतौर पर गाँवों में फ़ज़ूलख़र्ची यानी अपनी ताक़त से ज़्यादा ख़र्च करने की इतनी बुरी आदत है कि वीसियों साल तक मेहनत करने व कमाने के बाद भी किसान या मज़दूर २०-२५) रु० नहीं बचा पाते। शादी और त्योहार पर कम ख़र्च किया जा सकता है, मुक़दमेबाज़ी और आपस के झगड़ों का ख़र्च बचाया जा सकता है। शराब, तमाखू आदि नशों को छोड़ा जा सकता है। ये काम एक आदमी अकेले नहीं कर सकता। इसके लिए सारे गाँव को पंचायतों या बिरादरी द्वारा एक साथ सामूहिक प्रयत्न करना चाहिए। एक-दूसरे को फ़ायदा पहुँचाने

१. ग्रामार्थेन ग्रामिकं व्रजन्तं उपवासाः पर्यायेण अनुगच्छेयुः। अननुगच्छन्तः पणार्धपणिकं योजनं दद्युः।

की ज़बर्दस्त इच्छा जब हरेक नागरिक में होगी, तब ये समस्यायें भी खुद-बखुद हल होजावेंगी। मुक़दमे में दूसरे को परेशान न कर आपसी समझौते द्वारा फ़ैसला कर लेने की इच्छा से मुक़दमेबाज़ी पर होनेवाला दोनों दलों का भारी ख़र्च बच सकता है। बराती अगर कन्यापक्ष की दिक़्क़त अपनी दिक़्क़त समझ लें, तो दहेज भोजनादि के शादी के बड़े भारी ख़र्च बच सकते हैं।

गाँव के समझदार लोग जैसे सफ़ाई के बारे में शेष नागरिकों को शिक्षा दे सकते हैं, वैसे ही सामाजिक दृष्टि से भी उन्हें शिक्षा दे सकते हैं। बालविवाह, अनमेल विवाह, मृतक भोज आदि सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए गाँवभर में आदर्श पेश करना और लोगों को समझाना उनका भारी फ़र्ज़ है। गाँव के अनपढ़ों को वे निजी या सामूहिक रूप से शिक्षा दे सकते हैं; अवकाश मिलने पर अच्छी पुस्तकें या अख़बार सुना-सुनाकर उनका ज्ञान बढ़ा सकते हैं; बेकार या भिखारी लोगों को काम करने की प्रेरणा या काम देने का प्रबन्ध कर सकते हैं; उनमें मितव्ययिता, सहिष्णुता आदि गुणों का प्रचार कर सकते हैं।

अभी मैं तुम्हें आग, बाढ़ वग़ैरह विपत्तियों के आने पर सब लोगों की सहायता करने को लिख चुका हूँ। लेकिन सहायता करने का ढङ्ग सीखना पड़ता है। मैंने कई अग्निकाण्ड देखे हैं, जबकि सारा-का-सारा गाँव जलने लगा है और गाँववाले कुछ भी नहीं कर सके। इसलिए नहीं कि वे कुछ करना नहीं चाहते, बल्कि इसलिए कि उन्हें कुछ सूझता नहीं कि आग कैसे बुझाई जाय। गाँववाले हाथ-पर-हाथ धरे अपनी सारी दौलत को जलते देखते रहते हैं और कुछ समझदार अभ्यस्त स्वयंसेवक या स्काउट आते हैं और

थोड़ी देर में सब व्यवस्था कर देते हैं। समय पर दूसरे की सेवा करने की व्यावहारिक शिक्षा का ज्ञान भी नागरिकों को होना चाहिए। एक आदमी डूब रहा है, कहीं भारी चोट खा गया है, कहीं आग लग रही है या कोई और आफ़त आ रही है, मेले में भारी भीड़ के कारण बच्चे कुचले जारहे हैं या गुम हो गये हैं, ऐसे मौक़ों पर रक्षा की व्यावहारिक शिक्षा स्काउटों को दी जाती है। हरेक गाँव में भी स्काउटों या स्वयंसेवकों का एक ऐसा दल होना चाहिए, जो नागरिकों को समय-समय पर सहायता और ऐसे कामों की शिक्षा देता रहे।

नागरिकों की सामूहिक कर्तव्य-भावना को ऋग्वेद के अन्तिम तीन मन्त्रों में इतनी उत्तमता से बताया गया है कि मैं उन्हें यहाँ देने का लालच रोक नहीं सकता:—

संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।[१]

समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मंत्रमभिमंत्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ।।[२]

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।[३]

१. हे मनुष्यो, आप सब अच्छी तरह मिलकर चलो, आपस में मत-भेद मत रक्खो, एक-दूसरे को पहचानने की कोशिश करो।जैसे सूर्य, अग्नि, वायु आदि अपना-अपना कर्तव्य पालन करते हैं, उसी तरह आप भी अपना-अपना कर्तव्य पालन करो।

२. आप सबकी एक सलाह हो, एकसाथ उठना-बैठना हो, दिल एक हो। मैं सबको एक मंत्र से दीक्षित करता हूँ और एक से प्राकृतिक साधन देता हूँ।

३. आप लोगों का एक संकल्प हो, दिलों में फूट न हो, आप लोगों के सब काम एकसाथ अच्छी तरह सम्पन्न हो सकें।

: १८ :

मेरा देश

१९-८-३८

पिछले दो पत्रों में हमने गाँव या शहर के प्रति अपने कर्तव्यों पर कुछ विचार किया है। पर यह तो प्राथमिक कर्तव्य है। हमारा कर्तव्य यहीं समाप्त नहीं होजाता। एक और प्रधान संस्था मौजूद है, जिसके प्रति भी मेरा फ़र्ज़ है और जो मेरे सहयोग की अपेक्षा करती है – वह है मेरा—हमारा देश। इसके प्रति अपने फ़र्ज़ को राष्ट्रीयता कहा जाता है। यह राष्ट्रीयता भूगोल, भाषा, धर्म तथा दूसरी उन बातों से उत्पन्न होती है, जो निकटता तथा सामाजिक सजातीयता पैदा करती हैं। किसी राष्ट्र की भौगोलिक रूपरेखा नियत होती है। उसका अपना एक स्वतंत्र नाम होता है। उसका अपना साहित्य, अपना इतिहास, अपनी सरकार और उसमें रहनेवालों के अपने स्वार्थ होते हैं। नागरिक ने व्यक्ति से कुटुम्ब और कुटुम्ब से गाँव या शहर तक अपना कार्यक्षेत्र फैलाया और अब वह राष्ट्र या देश तक, जिसे वह अपनी मातृभूमि कहता है, अपना दायरा बढ़ाता है।

इस मातृभूमि के भाव ने जातियों के इतिहास बनाये हैं। एक समय था, जब देश या मातृभूमि का भाव लोगों में इतना प्रबल न था। मनुष्य का क्षेत्र संकुचित था, पर वह बढ़ते-बढ़ते अब एक राष्ट्र या देश तक फैल गया है। और यह यहाँतक बढ़ गया है कि जाति की जाति आँख मूँदकर देशभक्ति, मातृभूमि और राष्ट्रीयता के नाम पर अपनी जान कुर्बान करने में ज़रा भी नहीं हिचकती। हज़ारों कवियों ने

मातृभूमि के नाम पर कविताएँ लिखी हैं, हज़ारों लेखकों ने विह्वल होकर मातृभूमि का यशोगान किया है और लाखों नागरिकों ने हंसते-हंसते देशप्रेम के नाम से प्राणोत्सर्ग कर दिया है। अपने इस राष्ट्र या देश के इन्तज़ाम करनेवाले लोगों के समूह को सरकार कहते हैं, जो अपने नागरिकों की रक्षा का जिम्मा लेती है। एक देश उसमें रहने वाले सब नागरिकों को--सब श्रेणियों और सब जातियों को एक स्वार्थ से बांध देता है और एक नाम दे देता है। भारत के रहनेवाले भारतीय, ब्रिटेन में रहनेवाले ब्रिटिश और फ्रांस में रहनेवाले फ्रांसीसी कहलाते हैं।

कई शहर और गाँव मिलकर ज़िला बनाते हैं और कई जिले मिलकर प्रान्त कहाते हैं। कई प्रान्त मिलकर देश कहाते हैं। ज़िलों और प्रान्तों के संबंध में यह जरूरी नहीं कि वे एक समान बड़े हों। अलग-अलग भौगोलिक परिस्थिति तथा अपनी शासनसंबंधी सुविधा के अनुसार यह बटवारा किया जाता है। भारत बहुत बड़ा देश है। इसके प्रान्त भी उसी क्रम से बड़े हैं। इसका एक-एक प्रान्त यूरोप के एक-एक देश के बराबर है। भारत के भी सभी प्रान्त और ज़िले एक समान नहीं हैं। नागरिक के जिस शासनाधिकार की चर्चा हम पिछले (पांचवें) प्रकरण में कर आये हैं, उसके अनुसार नागरिकों को अपने मामलों में ज्यादा-से-ज्यादा दिलचस्पी लेने और अधिकार देने के सिद्धान्त को हमने माना था। इसीलिए स्थानीय स्वराज्य में एक छोटे से केन्द्र की जनता को काफ़ी अधिकार होते हैं। ऊपरी सरकार उसमें कम दख़ल देती है। कुछ ऐसे मामले होते हैं, जो ग्राम पंचायत के क्षेत्र व अधिकार से बाहर होते हैं। उन्हें ज़िला-बोर्ड सम्हालता है, पर वह भी यथासंभव अपने सब मामले स्वयं निपटाता है। बड़ी-बड़ी सड़कों जैसे जो कार्य

उसकी शक्ति से बाहर हैं, प्रान्तीय सरकार के सिपुर्द होते हैं। प्रान्तीय सरकार जहां ज़िला-बोर्डों पर निरीक्षण करती है, वहाँ अपने को भी यथासंभव स्वतंत्र रखने की चेष्टा करती है। अप्रैल १९३७ से पहले भारत में जो शासन विधान चालू था, उसमें प्रान्तों को अपने प्रान्तीय मामलों में भी बहुत-कम स्वतंत्रता थी। उन्हें प्रायः प्रत्येक मामले में केन्द्रीय सरकार का मुँह ताकना पड़ता था, इसलिए उस व्यवस्था को 'यूनिटरी सिस्टम' कहा जाता था। लेकिन अब ११ प्रान्तों—बंगाल, आसाम, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रान्त, मद्रास, बम्बई, सिन्ध, सीमाप्रांत, पंजाब और युक्तप्रान्त को काफ़ी ज़्यादा अधिकार देकर प्रान्तीय स्वराज्य दे दिया गया है। केन्द्रीय सरकार सब प्रान्तीय सरकारों का निरीक्षण करती है और राष्ट्र-रक्षा आदि सिर्फ़ वही काम करती है, जिनका सारे देश से सम्बन्ध हो। इसके लिए वह कस्टम, रेलवे आदि आमदनी के कुछ साधन भी अपने पास रखती है। सब प्रान्त व संघविधान के अनुसार रियासतें भी इसकी सदस्य होंगी। अभीतक हमारे यहाँ प्रान्तीय स्वराज्य तो क़ायम होगया है, लेकिन संघ-विधान अमल में नहीं आया।

मेरा विचार विधान के पेचीदे विस्तार में जाने का नहीं है। विधान का निर्देश तो मैं प्रसंगवश कर गया, मेरा मतलब सिर्फ़ यह था कि नागरिक के कर्तव्य अपने-अपने परिवार और अपने गाँव या शहर तक ही सीमित नहीं हैं, वे इससे कहीं ज्यादा, अपने प्रान्त, सारे देश या राष्ट्र के प्रति हैं। जैसे नागरिक को परिवार और गाँव के हित में अपना हित समझना होता है, उसी तरह प्रान्त व देश के हित को भी अपना हित समझना चाहिए। अगर देश की स्थिति ही सुरक्षित न हो, तो गाँव या परिवार की हालत भी ख़तरे में पड़ सकती

है। इसका उदाहरण देने की बहुत ज़रूरत नहीं। भारत की अपनी सरकार नहीं है। इसका असर दूर-से-दूर कोने में रहनेवाले भारतीय किसान पर भी उतना ही ज़्यादा पड़ता है, जितना राजधानी दिल्ली में रहनेवाले नागरिक पर। रेलवे, सेना, सामुद्रिक तटकर, विनिमय और मुद्रानीति आदि कई महत्त्वपूर्ण विषय सारे देश से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए यह ज़रूरी है कि देश के मामलों में नागरिकों को पूरी रुचि हो। यहाँ मैं देश के प्रति अपने कुछ कर्तव्यों की ओर तुम्हारा ध्यान खींचता हूँ:—

(१) केन्द्रीय और प्रान्तीय धारासभाओं के चुनाव में जहाँतक मुमकिन हो, योग्य उम्मीदवार को भेजना चाहिए। पैसे के, जात-पात के या मज़हब के लिहाज़ से नहीं, लेकिन योग्यता और देशसेवा की कसौटी से नागरिकों को चुनाव के समय वोट देने चाहिए। अभीतक भी भारत में बहुत-कम नागरिकों को मताधिकार प्राप्त है और जो है भी, वह साम्पत्तिक या शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता पर। यह अनुचित है। बालिगमात्र को मताधिकार मिलना चाहिए, जैसा कि मैं अधिकार के सिलसिले में लिख चुका हूँ। भारत के मताधिकार का दूसरा बड़ा दोष यह है कि इसमें हिन्दुस्तानियों को अलग-अलग दलों, फिरकों या संप्रदायों में बाँट दिया गया है। जो उम्मीदवार अपने सम्प्रदाय के साम्प्रदायिक भावों को जितना ज़्यादा भड़कावेगा, वही ज्यादा वोट प्राप्त कर सकेगा और आज इसका नतीजा होरहा है भारत में सांप्रदायिकता की वृद्धि।

(२) देश के सामने जो समस्या पेश हो, उसमें नागरिक भी खूब दिलचस्पी लें। राष्ट्र के विधान और सरकारी मशीनरी के बारे में पूरी जानकारी होनी चाहिए। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण समस्या पर लोक-

मत जागृत होना चाहिए, जिससे चुने गये प्रतिनिधियों को भी लोकमत का निरादर करने की हिम्मत न हो।

(३) अगर कोई ऐसा मौक़ा आजाय, जब प्रजा के हाथ से अपने अधिकार छिनने लगें,तो उससे सतर्क रहना चाहिए। जो अधिकार हमारे पूर्वजों ने सदियों लड़कर प्राप्त किये हैं, उन्हें यों-ही अपनी लापरवाही और उपेक्षा से गंवा देना परले दर्जे की मूर्खता होगी। अधिकारों की रक्षा के लिए यदि आन्दोलन की आवश्यकता हो, तो उससे भी घबराना नहीं चाहिए।

(४) राष्ट्र की सरकार जैसा कि मैं बार-बार कह चुका हूँ, सब नागरिकों की प्रतिनिधि-संस्था है। इसका अर्थ यह है कि नागरिक खुद ही अपने पर शासन करते हैं। इसका यह भी अर्थ हुआ कि सरकार जो क़ानून बनाती है, जो टैक्स लगाती है, वह हमारी—हमारे प्रतिनिधियों की सम्मति से लगाती है। उन कानूनों और आज्ञाओं को मानना हमारा कर्तव्य है। यदि हम इन सरकारी हुक्मों को मानने से इन्कार कर देते हैं, तो इसका परिणाम यह होगा कि वह सरकार फेल होजायगी और तब शक्तिशाली पुरुष सैनिक बल से हम पर हावी हो जावेंगे, जो हमें क़तई पसन्द नहीं है। हाँ, यदि विदेशी सरकार हो और वह लोकमत का निरादर कर अनुचित कानून जारी करे, अनुचित टैक्स लगावे, तो उनका विरोध करना प्रजा का केवल अधिकार ही नहीं, कर्तव्य भी है। जिस गुलाम देश के नागरिक निरंकुश विदेशी सरकार के अनुचित और कठोर नियमों का सिर झुकाकर पालन करते हैं, वे अपने कर्तव्य से गिर जाते हैं। विदेशी सरकार का विरोध करने में चाहे कितनी ही तकलीफ़ें क्यों न सहनी पड़ें, नागरिकों को घबराना नहीं चाहिए।

(५) राष्ट्र या देश की उन्नति में यदि कुछ त्याग करना पड़े, तो वह करने में भी संकोच न करना चाहिए। महाभारत में लिखा है:—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।।

कुल के लिए एक व्यक्ति, ग्राम के लिए कुल, और प्रान्त के लिए ग्राम को छोड़ने में संकोच न करना चाहिए। जो राष्ट्र हमारे जन-धन और प्राण की रक्षा करता है, उसके लिए यदि हमें अपने प्राण तक देने पड़ें, तो भी उसके लिए संकोच न करना चाहिए। मातृभूमि के लिए आत्म-बलिदान की सैकड़ों वीर कथाएँ इतिहास में विद्यमान हैं। जिस देश में हम पैदा होते हैं, खेलते हैं, कूदते हैं और सब प्रकार के सुख पाते हैं, यदि उसकी रक्षा के लिए हम अपने को बलिदान भी करदें, तो वह महँगा सौदा नहीं है। फिर, मातृभूमि की आज़ादी हमारी अपनी आज़ादी है। हमारी गतिविधि, हमारा चिन्तन, हमारा प्रत्येक काम ऐसा होना चाहिए कि उससे हमारे देश को ज़रा भी दुःख न हो। अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में नागरिक का कर्तव्य बताया गया है— उठते, बैठते हुए, खड़े हुए, दायें या बायें पैर से हम मातृभूमि को कोई कष्ट न दें।[१] अपने छोटे-बड़े भेद-भाव भूलकर मातृभूमि पर विपत्ति के समय हमें एक होजाना चाहिए।

(६) आजकल प्रत्येक सभ्य राष्ट्र के नागरिक की यह कोशिश रहती है कि वह अपनी मातृभूमि की इज़्ज़त की रक्षा करे। भारतवर्ष में भी राष्ट्रीयता की दिनोंदिन वृद्धि होरही है। जहाँ यह देश के लिए शुभ लक्षण है, वहाँ हमारी राष्ट्रीयता में एकांगिता का दोष भी

१. उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्त उत प्रक्रामन्तः ।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् । २८ ।

है। हमारी राष्ट्रीयता के केवल राजनैतिक रूप का विकास होरहा है। केवल राजनीतिक अधिकार ही हमारे लिए काफ़ी नहीं हैं। राष्ट्र की संस्कृति, राष्ट्र की सभ्यता और राष्ट्र की भाषा आदि की भी हमें प्राणपण से रक्षा करनी चाहिए। इस ओर हमारी भीषण उदासीनता राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। इससे हममें आत्माभिमान या देश-गौरव नष्ट होजाता है। हमें अपने इतिहास पर—इतिहास के वीर नायकों पर गर्व करना चाहिए। हरेक मुल्क में वीरपूजा के उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाये जाते हैं। विशुद्ध विदेशी पोशाक में रहने और विदेशी भाषा बोलनेवाले से आप सच्ची राष्ट्रीयता की आशा नहीं कर सकते। वह अपने देश की आम जनता से कभी हिलमिल नहीं सकता, न उससे पूरी हमदर्दी कर सकता है। विदेशी तालीम ने हम शिक्षित भारतीयों को सचमुच आम जनता से इतना दूर कर दिया है कि अपने ही देश के गाँवों में हम परदेशी से मालूम पड़ते हैं।

(७) हमें प्रत्येक आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और साहित्यिक क्षेत्र में अन्य राष्ट्रों से आगे बढ़ने व अधिक उन्नति करने की कोशिश करनी चाहिए। हमारे अन्दर राष्ट्रीयता का एक ऐसा उत्साह होना चाहिए कि हम अपने देश की सर्वाङ्गीन उन्नति के बिना कभी चैन ही न लें।

(८) जब देश पर किसी शत्रु ने आक्रमण कर दिया हो, तब प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए, यह मैं पहले लिख चुका हूँ। लेकिन जब अपना देश ही आक्रमणकारी हो और अन्याय से दूसरे पर आक्रमण कर रहा हो, तब भी क्या हमें उस युद्ध में सम्मिलित होना चाहिए? इस सवाल का जवाब बहुत आसान नहीं है। कुछ राजनीतिज्ञों का मत है कि जब सरकार युद्ध का निश्चय कर

ले, तब नागरिकों को अपनी इच्छा को दबाकर बहुमत का आदर करना चाहिए। बहुत दफ़ा सरकारें जनता को सहयोग देने के लिए क़ानून द्वारा बाधित करती हैं, लेकिन मेरा विचार कुछ भिन्न है। किसी दूसरे देश पर बिना किसी कारण अपनी साम्राज्य-लिप्सा शान्त करने की ख़ातिर ही आक्रमण करना पाप है। मनुष्य का दायरा केवल राष्ट्र की भौगोलिक सीमा तक ही सीमित नहीं है, वह तमाम दुनिया का—सारी मानव-जाति का भी तो एक अंग है। जैसे एक नागरिक अपने पड़ोसी का अधिकार-हरण करके पाप करता है, वैसे ही एक राष्ट्र भी यदि दूसरे राष्ट्र को पराधीन करता है, तो वह भी पाप करता है। इसलिए ऐसे मौक़े पर नागरिकों को दिलेरी के साथ अपनी सरकार का विरोध करना चाहिए। यदि इतना आत्मबल आज यूरोपियन मुल्कों के नागरिकों में आजाय, तो साम्राज्यवाद के लिए होनेवाले हमले भी बन्द होजायँ। राजनीति के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० हैरल्ड लास्की लिखते हैं कि—

"आत्मा की प्रेरणा से बढ़कर और कोई कर्तव्य का निर्धारण नहीं कर सकता। आत्मा की आवाज़ को दबाना स्वतन्त्रता के साथ धोखा करना है। जो इस प्रकार की आज्ञायें स्वीकार कर लेते हैं, वे ग़ुलामी की सीढ़ी का काम देते हैं। जो अन्याय को देखते हुए भी चुप बैठे रहते हैं, वे भी उस अन्याय के करनेवाले हैं।......स्वतन्त्रता का अर्थ है अपने प्रति सच्चा रहना और यह तभी क़ायम रह सकती है, जब संघर्ष या मुक़ाबला करने का साहस हो। यह साहस—सिर्फ़ यही साहस स्वतन्त्रता की गारन्टी है। लोग कहेंगे कि इससे अराजकता फैल जायगी। मैं मान लेता हूँ, पर हमेशा व्यवस्था ही सर्वोत्कृष्ट चीज़ नहीं होती है और विद्रोह हमेशा हानिकर भी साबित नहीं

हुए। शक्ति का उद्देश्य सिर्फ़ शक्ति नहीं है, शक्ति का उद्देश्य है सुख की प्राप्ति। यदि शक्ति से सुख या आत्मसन्तोष का लाभ न हो, इसके विपरीत आत्मा को असन्तोष हो, तो सिवाय उस शक्ति से संघर्ष या विद्रोह के, हमारे पास और क्या मार्ग रह जाता है ? अन्यथा अपने सुख का हम बलिदान कर दें।" आगे चलकर प्रो० लास्की लिखते हैं कि "हमारी सरकार कितनी ही अच्छी क्यों न हो, उसे यह भय ही हमारी स्वतन्त्रता का सबसे बड़ा प्रभावशाली साधन है कि जनता की स्वतन्त्रता का परिणाम होगा, दृढ़संकल्प नागरिकों द्वारा विद्रोह या क्रान्ति।"[१]

नागरिक का फ़र्ज़ है कि वह अपने दायरे को बढ़ाते-बढ़ाते तमाम दुनिया को अपना दायरा बना ले। कुछ लोग अन्तर्राष्ट्रीय विश्व-बन्धुत्व की कल्पना करते हुए कुल, जाति या देश के अभिमान को भूल जाते हैं, इन्हें संकीर्णता कहकर इनका निरादर करने लगते हैं। लोकमान्य तिलक ने ऐसे लोगों को खूब अच्छा जवाब दिया है। वे कहते हैं—"निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए जिस प्रकार सगुणोपासना आवश्यक है, उसी प्रकार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की बुद्धि पाने के लिए कुल, जाति और देश आदि के अभिमान की भी आवश्यकता है। समाज की प्रत्येक पीढ़ी इसी ज़ीने से ऊपर चढ़ती है और इसीलिए इस सीढ़ी को बनाये रखना पड़ता है।.........मंज़िल पर मंज़िल तैयारी करके इमारत बन जाने पर जिस प्रकार नीचे के हिस्से निकाले नहीं जा सकते, अथवा जिस प्रकार तलवार हाथ में आ जाने पर भी कुदाली की, या सूर्य होने पर भी अग्नि की ज़रूरत बनी ही रहती है, उसी प्रकार सर्वभूत-हित की अन्तिम सीमा तक पहुँच जाने

१. Liberty in the Modern State (पृ० ७५-७८)

पर भी न केवल देशाभिमान की ही नहीं, वरन् कुलाभिमान की भी आवश्यकता बनी रहती है।" हाँ, इस हालत में अपने देश की उन्नति का अर्थ दूसरे राष्ट्र का पतन नहीं होगा। अपना व्यक्तित्व, परिवार, गाँव, नगर, देश और विश्व ये पाँच वृत्त हैं, जिनका केन्द्र एक है और क्रमशः ये अपने पहले से बड़े हैं। ये परस्पर विरोधी नहीं हैं। इसलिए एक समय एक व्यक्ति के लिए सम्भव है कि वह अपने-अपने परिवार, गाँव, नगर, देश और विश्व सबके हितों की रक्षा कर सके। जहाँ एक हित दूसरे को काटने लगे, वहाँ बड़े वृत्त को तरजीह दी जानी चाहिए। राष्ट्रसंघ (लीग आफ़ नेशन्स) इस दिशा में काफ़ी सफलता प्राप्त कर सकता, यदि उसके सदस्य इस नियम का पालन करते, लेकिन उनकी स्वार्थी प्रवृत्ति ने राष्ट्रसंघ को लुटेरों का सदस्य बना दिया है। कितनी बड़ी विडम्बना है!

: १६ :

मेरे देशभाई

२३-७-३८

तुम्हारे पत्र की अत्यन्त प्रतीक्षा थी। माँ के समाचार जानने की बहुत उत्कण्ठा थी, लेकिन तुम्हारा पत्र नहीं आया। शायद तुम माँ की सेवा-शुश्रूषा में लगे होगे। माता की सेवा का सौभाग्य विरले को ही मिलता है। अपनी सेवा से प्रसन्न करके माँ से आशीश पानेवाला बड़भागी होता है। तुमने मनु का "अभिवादनशीलस्य वृद्धजनोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्।" यह श्लोक पढ़ा होगा। मैं इस श्लोक का क़ायल हूँ। तुम्हें माँ की सेवा का अवसर प्राप्त हुआ है। सच्चे दिल से की गई सेवा व्यर्थ नहीं जाती। मुझे विश्वास है कि तुम्हारी सेवा से माँ फिर नीरोग हो उठेंगी। मुझे तो इस सेवा का अवसर ही नहीं मिला। मैं जब घर पहुँचा था, माँ कुछ घण्टों की मेहमान थीं। माँ जबतक थी, उसका मूल्य नहीं समझ पाया था, उसके जाने पर सहसा मालूम हुआ कि मैं (३० वर्ष का, एक-दो बच्चों का बाप होकर भी) कितना अनाथ होगया हूँ। मैं पिछले पत्र में ही लिख चुका हूँ कि माँ की सेवा और देश-सेवा में विरोध नहीं है। माँ की सेवा भी नागरिक का महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है।

अब मेरी पत्रमाला समाप्त होने ही लगी है। दो-एक पत्र और-बस, फिर यह चर्चा समाप्त।

पिछले पत्र में देश के प्रति नागरिक के कर्तव्यों पर लिखते हुए एक ख़ास विषय जानकर छोड़ गया था। वही इस पत्र में लिखने का

विचार है। मातृभूमि के प्रति कर्तव्यबुद्धि--मातृभूमि के लिए बलिदान आदि शब्द बहुत हृदयस्पर्शी हैं, लेकिन यह मातृभूमि, यह राष्ट्र है क्या ? केवल नदी-नालों या पहाड़ों का नाम ही तो राष्ट्र नहीं है। वस्तुतः राष्ट्र है भूगोल, इतिहास, धर्म, भाषा, संस्कृति आदि अनेक दृष्टियों से परस्पर सम्बद्ध एक नियत सीमित देश में रहनेवाले नागरिकों—आबालवृद्ध नरनारी का समूह, फिर चाहे उनमें कितनी ही श्रेणियाँ हों। वस्तुतः यही राष्ट्र है। राजनीतिशास्त्र की पुस्तकों में राष्ट्र के लक्षण पर जो विवाद किया गया है, मैं उसकी बारीकियों में नहीं जाना चाहता। अपनी बात समझाने के लिए राष्ट्र का इतना ही लक्षण काफ़ी है। हम भारतीयों के लिए राष्ट्र क्या है ? भारत की भौगोलिक सीमा में रहनेवाले सब भारतीय, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, बच्चे हों या बूढ़े, हिन्दू हों या मुसलमान, सिख हों या पारसी, ईसाई, दलित हों या सवर्ण, किसान हों या ज़मींदार, मज़दूर हों या पूँजी-पति। सब भारतीय राष्ट्र के अनिवार्य अंग हैं। इन सबके हितों की रक्षा, इन सबकी सेवा और इन सबकी उन्नति ही नागरिकों का पहला कर्तव्य है। कोई वर्ग, कोई श्रेणी किसी दूसरे वर्ग या श्रेणी के अधिकारों का अपहरण न करे। सब एक-दूसरे के अधिकारों का आदर करें। मैं संक्षेप से इस पत्र में एक-एक श्रेणी पर विचार करने का यत्न करूँगा।

भारतवर्ष की सबसे बड़ी समस्या साम्प्रदायिक समस्या है। यह आज भारत के बड़े-से-बड़े नेताओं, राजनीतिज्ञों और विचारकों को परेशान कर रही है। इसकी तह में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास, और धार्मिक असहनशीलता काम कर रही है। इसी अविश्वास और असहिष्णुता के कारण ही पिछले १६ सालों में कितने भयंकर दंगे

हुए, सैंकड़ों मारे गये, कितनी स्त्रियों का अपहरण किया गया, लाखों रुपये की जायदादें जला दी गईं। मेरा धर्म सच्चा है, दूसरे का झूठा, यह विश्वास ही इन झगड़ों की जड़ है। हरेक धर्मप्रवर्तक महापुरुष के जीवन का अध्ययन करने से हमें मालूम होगा कि उसने अपने समय और देश की हालतों के अनुसार कुछ विशेष बातों पर ज़ोर दिया। बहुत मुमकिन है कि हज़रत मुहम्मद अरब में न होकर भारत में होते, तो उनकी शिक्षाओं में कुछ दूसरी बातों पर बल दिया जाता। इसी तरह म० बुद्ध, ईसा और गुरु नानक आदि की शिक्षाओं में भी अपने चारों ओर की परिस्थितियों का प्रभाव साफ़ तौर से प्रतीत होता है। फिर एक महापुरुष को बिलकुल मुकम्मिल और निर्भ्रान्त मान लेने की ग़ल्ती की जाती है। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से निष्पक्ष विवेचन किया जाय, तो धर्मप्रवर्तकों की भी अनेक अपूर्णताएँ हमारे सामने आयँगी, यहाँतक कि सूर्य में भी धब्बे दीखते हैं। हमें देखना तो यह चाहिए कि एक नागरिक के दार्शनिक मंतव्यों का उसके आचरण पर तो ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता, जोकि समाज के लिए या पड़ोसी के लिए नुक्सानदेह हो। धर्मों का अध्ययन करने से यह साफ़ मालूम होता है कि सभी धर्मप्रवर्तकों ने सार्वभौमिक धर्म सदाचार की शिक्षा दी है। कोई मस्जिद में जाय, गिरजे या मन्दिर में जाय, इससे किसी दूसरे की हानि नहीं होती। इसलिए हम सब नागरिकों का कर्तव्य है कि हम हरेक धर्म या सम्प्रदाय को उन्नति करने दें। इतना ख़याल हमें ज़रूर रखना चाहिए कि अपने धर्म का प्रचार करते हुए किसी दूसरे से जबर्दस्ती न करें, क्योंकि ऐसा करना उस अधिकार को छीनना है, जो धार्मिक स्वतन्त्रता के बारे में नागरिकों को मिला हुआ है और जिसकी चर्चा हम अधिकार के प्रकरण में

कर चुके हैं। राष्ट्रसम्बन्धी व्यवहार में तो नागरिकों को सिर्फ़ इतना देखना चाहिए कि कोई व्यक्ति कितना योग्य है, उसमें जन-सेवा की कितनी लगन है। इस कसौटी पर उतरनेवाले किसी भी व्यक्ति को बिना किसी झिझक के ऊँचे से ऊँचा पद दिया जा सकता है।

स्त्रियों के साथ भी नागरिकों का व्यवहार बहुत अच्छा होना चाहिए। नारी शक्ति की जननी है। समाज के निर्माण में पुरुष की अपेक्षा उसका हिस्सा कम नहीं है। "स्त्री के अभाव में संसार हिंसा, कलह, अशान्ति और दुःख का नमूना बन गया होता। शोभा, सुन्दरता, सरसता और सजीवता की जगह भीषणता, बीभत्सता, नृशंसता, स्वार्थान्धता और रक्तपिपासा का राज्य दिखाई देता। स्त्री ने उत्पन्न होकर जगत् पर अमृत की वृष्टि की है। उसने मनुष्य को उत्पन्न ही नहीं किया, जगत् को जिलाया और अमर भी किया है।" ऐसी स्त्री जाति के सुखों की चिन्ता पुरुष समाज का प्रथम धर्म है। स्त्रियों की शिक्षा, स्त्रियों के स्वास्थ्य और स्त्रियों की दूसरी सुविधाओं का इन्तज़ाम करना चाहिए। राजनैतिक या सामाजिक दृष्टियों से पुरुषों व स्त्रियों में यथासम्भव कोई फ़र्क न रहे। विधवाओं के साथ होनेवाले अत्याचार बन्द कर देने चाहिए। रोज़मर्रा पतियों द्वारा स्त्रियों पर होनेवाले अत्याचारों की भी समाप्ति हो जानी चाहिए।

दलितों के सम्बन्ध में पहले भी मैं विचार कर चुका हूँ। कोई मनुष्य जन्म के कारण दलित नहीं है। सभी नागरिकों को, जो भी इस राष्ट्र में उत्पन्न हुए हैं, एक समान विकास करने का अधिकार है। नागरिकों को चाहिए कि वे जहाँ किसी के साथ धार्मिक भेदभाव न करें, वहाँ जन्म या वर्ग के कारण भी किसी से भेदबुद्धि न रखें। लोकमान्य तिलक ने ठीक ही कहा था कि "किसी आदमी को

अस्पृश्य कहना भगवान् के विरुद्ध पाप करना है, क्योंकि वह भी भगवान् ही का एक पुत्र है।"

एक देश में ऊपर लिखे श्रेणी-विभाजन के सिवाय आर्थिक दृष्टि से भी श्रेणियाँ बाँटी जाती हैं। किसान, ज़मींदार, मज़दूर, पूँजीपति, बौद्धिक पेशे, शासक श्रेणी वग़ैरा कई जमायतें हैं, जिनके अधिकारों की रक्षा के लिए हमें कोशिश करनी चाहिए। किसानों पर अबतक ज़मींदारों और सरकारी कर्मचारियों की ओर से सैंकड़ों प्रकार के अत्याचार होने का नतीजा यह हुआ कि तमाम मुल्क के लिए अन्न पैदा करनेवाला किसान खुद भूखों मर रहा है। यह स्थिति किसी भी हालत में न रहनी चाहिए। किसान की तो समस्त देश का अन्नदाता होने के कारण सबसे अधिक इज्ज़त होनी चाहिए। किसान से उतना ही टैक्स लेना चाहिए, जिसे वह बरदाश्त कर सके। उसकी आमदनी बढ़ाने, उसके ख़र्च कम करने और खेती के सुधार की ओर भी नागरिकों का पूरा ध्यान रहना चाहिए। उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति को उन्नत करना चाहिए। मज़दूरों के साथ भी यही उदार दृष्टिकोण रखना चाहिए। मिलों में उनकी अनेक तकलीफ़ों को दूर करना चाहिए। काम के घंटे, मज़दूरी व उनसे व्यवहार में मनुष्यता का परिचय देना चाहिए। यदि किसी देश के किसान मजदूर दरिद्र हैं, तो उस देश का व्यापार व्यवसाय भी ज़रूर चौपट हो जायगा। अगर एक राष्ट्र की ख़रीदने की ताक़त ही नष्ट हो जाय, तो उसका नतीजा व्यापार-व्यवसाय का नाश तो है ही।

ज़मींदारों व पूँजीपतियों के साथ भी नागरिकों का व्यवहार न्यायपूर्ण रहना चाहिए। आज बहुत-से विचारक इन दोनों श्रेणियों के अस्तित्व की उपयोगिता से इन्कार करते हैं। मैं यहाँ इस बहस

में नहीं पड़ना चाहता। मेरा तो कहना यह है कि खेती और विशेष-कर व्यवसाय की उन्नति में धनिक श्रेणी का विशेष हाथ रहा है, इसलिए उसके साथ भी अन्याय और बलात्कार नहीं करना चाहिए। हाँ, उन्होंने दरिद्र जनता पर जो अत्याचार कर रखे हैं, उन्हें भी दूर करने में संकोच नहीं करना चाहिए। धन को अनुचित महत्त्व देने, आम लोगों को उन्नति की ज्यादा-से-ज्यादा सुविधाएँ देने का परिणाम यह होगा कि अमीर श्रेणियों ने जो अनुचित दबदबा क़ायम कर रखा है, वह खुद ही ख़तम होजायगा।

देश की सब जमायतों को नागरिकता के अधिकार एक-से हैं। यह मानकर यदि सभी नागरिक एक दूसरे के हितों और अधिकारों का ख़याल रखें, तो मुल्क की बहुत-सी अन्दरूनी समस्याएं हल हो जायें। इनके सिवा जनता को अपनी नैतिक सतह भी ऊँची करनी चाहिए। चोरी, मारपीट, व्यभिचार, धोखा, बेईमानी आदि दुर्गुणों के निवारण की सामाजिक रूप से कोशिश होनी चाहिए। सरकार द्वारा जारी किये नियमों और कार्यों में जनता को पूरा सहयोग देना चाहिए। यही नागरिक के कर्तव्य हैं।

यूनानियों की निम्नलिखित नागरिक प्रतिज्ञा सभी नागरिकों के लिए विचारणीय है। प्राचीन यूनान में नगरराज्य होते थे, इसलिए हमें नगर से राष्ट्र ही समझना चाहिए। वह प्रतिज्ञा यह है :—

"यह हमारा नगर है। हम अपनी कायरता या बेईमानी के किसी काम से इसका अपमान न करेंगे, न हम अपने दुखी साथियों का कार्यक्षेत्र में साथ छोड़ेंगे। हम इस नगर की पवित्र वस्तुओं तथा आदर्शों की रक्षा के लिए लड़ेंगे, चाहे हम अकेले हों या बहुतों के साथ हों। हम नगर के नियमों का आदर तथा पालन करेंगे और

उनकी अवहेलना करनेवाले बन्धुओं में भी ऐसा ही भाव भरने का यथाशक्ति प्रयत्न करेंगे; हम नागरिक कर्तव्यों की सार्वजनिक भावना को उत्तेजित करेंगे। इस प्रकार इन सब उपायों से हम इस नगर को जैसा हमें यह सौंपा गया है उसकी अपेक्षा आनेवाली पीढ़ी के लिए कम नहीं, अधिक महान्, उन्नत और सुन्दर बनायेंगे।"

इस प्रतिज्ञा के आखिरी वाक्य की ओर मैं तुम्हारा ध्यान ख़ास तौर से खींचना चाहता हूँ। यदि हरेक नागरिक, चाहे वह किसान हो या मज़दूर, डाक्टर हो या वकील, वैज्ञानिक हो या दार्शनिक, राजनीतिज्ञ हो या शासक, उपदेशक हो या अध्यापक, कारीगर हो या दुकानदार, व्यवसायी हो या इंजिनीयर, इस आदर्श को अपने सामने रक्खे और किसी काम को अपने हाथ में लेने से पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी हालत में कर देने का दृढ़ निश्चय करले, तो एक ही पीढ़ी में देश एक सदी आगे बढ़ सकता है। हरेक नागरिक अपने-अपने कार्य-क्षेत्र का विकास करे; आगे बढ़ना, यह आदर्श अपने सामने रक्खे। इस आदर्श को सामने रखने से ही आज यूरोप वैज्ञानिक, राजनैतिक, व्यापारिक और व्यावसायिक आदि सभी क्षेत्रों में इतनी उन्नति कर सका है। इसी आदर्श को सामने रखकर कोई भी राष्ट्रीय या सामाजिक आन्दोलन सफल होते हैं। संसार की उन्नति या विकास के मूल में यही भाव मुख्यतया काम करता है।

: २० :

कर्तव्यों का संघर्ष

२४-७-३८

पिछले सात पत्रों में हमने नागरिकों के व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों पर विचार किया है। वे ज़रूरी हैं और सच्चा नागरिक उनका पालन करने की कोशिश भी करता है। लेकिन कभी-कभी ऐसे अवसर भी सामने आजाते हैं, जब ये कर्तव्य आपस में ही टकराने लगते हैं। महाभारत के युद्ध के मौक़े पर अर्जुन के सामने भी यही कर्तव्य-संघर्ष उपस्थित हुआ था। एक ओर उसके गुरु तथा रिश्तेदार थे, जिन्हें वह मारना नहीं चाहता था, और दूसरी ओर क्षत्रिय का धर्म था। ऐसी कर्तव्यमूढ़ता अक्सर बहुत मौक़ों पर लोगों के सामने उपस्थित होती है, जब उन्हें दो कर्तव्यों के बीच में से एक का चुनाव करना पड़ता है, लेकिन उन्हें सूझता नहीं। "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः" पण्डित भी बहुधा ऐसी पहेली नहीं सुलझा सकते। लोकमान्य तिलक ने 'गीता-रहस्य' के दूसरे प्रकरण 'कर्म-जिज्ञासा' में ऐसे बहुत-से उदाहरण दिये हैं, जबकि धर्म के साधारण नियमों के पालन में ऐसी अड़चनें पैदा होजाती हैं, और आदमी किंकर्तव्य-विमूढ़ होजाता है। सत्य बोलना धर्म है, सत्य की हज़ार अश्वमेध यज्ञों से तुलना दी गई है, लेकिन आततायी से गौ को बचाने के लिए असत्य बोलना पाप नहीं माना जाता। शान्तिपर्व में ही सत्य का यह अपवाद "सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्। यद्भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यं

मतं मम ।।" कहकर स्वीकार किया गया है । इसमें सत्य से अधिक महत्त्व 'भूतहित' को दिया है । अहिंसा को परमधर्म माना गया है, लेकिन दूसरी ओर स्मृतिकार मनु कहते हैं—"गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।।" विश्वामित्र ने अभक्ष्य के भक्षण का समर्थन करते हुए कहा है—जीते रहेंगे तो धर्म फिर भी कर लेंगे, मरने से जीना ज़्यादा अच्छा है । (जीवितं मरणात्श्रेयो जीवन्धर्ममवाप्नुयात्—शान्ति० १४१)

नीतिशास्त्र बहुत कठिन विषय है, आचार और कर्तव्य की समस्या कठिन है । इसी तरह इस नागरिकशास्त्र में भी बहुत दफ़ा कर्तव्यों का संघर्ष उपस्थित होजाता है, तब किया क्या जाय ? मैं इस पत्र में इसीकी कुछ चर्चा करना चाहता था ।

राजपूताने के इतिहास में एक कथा आती है कि एक राजपूत सरदार के हृदय में, जिसकी एक दिन पहले शादी हुई थी, स्त्री के और देश के प्रति कर्तव्यों में संघर्ष उत्पन्न हुआ । वह कभी घर की ओर जाता और कभी युद्ध-क्षेत्र की ओर । न वह स्त्री को ही अकेला छोड़ सकता था और न युद्ध से ही उसका क्षत्रियस्वभाव मुड़ना चाहता था । आख़िर उसकी स्त्री ने पति की किंकर्तव्यविमूढ़ता देख गला काटकर अपना सिर पति के पास भिजवा दिया । मेवाड़ की एक दूसरी कथा के अनुसार महाराणा भीमसिंह की लड़की कृष्णाबाई के कारण जब मेवाड़ पर भारी आफ़त आने लगी, दो राजाओं ने उसपर हमला कर दिया, तब उसने अपने देश के लिए आत्म-हत्या करना उचित समझा, जबकि आत्म-हत्या करना पाप है । आत्म-हत्या के पाप होते हुए भी सिपाही युद्ध में जाता है और खुशी-खुशी मृत्यु का आलिंगन करता है । हिंसा पाप है, फिर भी सरकारी

न्यायाधीश डाकुओं और हत्यारों को प्राणदण्ड तक की आज्ञा देता है। एक तरफ़ माँ बीमार पड़ी है और दूसरी ओर जाति या धर्म की रक्षा का सवाल है। वीर सैनिक माँ को रामभरोसे छोड़कर युद्ध-क्षेत्र चला जाता है। सरकार का आज्ञापालन नागरिक का कर्तव्य है, तथापि महान् विभूतियाँ अपने राष्ट्र के साम्राज्यवादी आक्रमण का विरोध कर उसमें सहयोग देने से इन्कार कर देती हैं। प्रजातन्त्र का सिद्धान्त कहता है कि प्रत्येक प्रश्न पर जनमत का आदर करना चाहिए, लेकिन फिर भी गांधीजी अहमदाबाद-काँग्रेस में यह प्रस्ताव पेश करते हैं कि मुझे संग्राम छेड़ने के लिए डिक्टेटर बना दिया जाय। काँग्रेस का विधान प्रजातन्त्रमूलक है, फिर भी १९३० में डिक्टेटरों की शृंखला दीखती है। जनता के मताधिकार व शासनाधिकार से परिचित होते हुए भी इटली, जर्मनी आदि देशों के सच्चे हितचिन्तक मुसोलिनी और हिटलर बहुतसे अधिकार अपने हाथ में लेलेते हैं। एक शहर में प्लेग फैल जाने के कारण आग लगा दी जाती है, भले ही उससे नागरिकों की लाखों रुपये की सम्पत्ति नष्ट हो-जाय। सार्वजनिक हित के लिए एक किसान की ज़मीन छीन ली जाती है, यद्यपि उसे भी अपनी सम्पत्ति की रक्षा का उतना ही अधिकार है जितना किसी दूसरे नागरिक को। प्रत्येक नागरिक अपना कार्य करने में स्वतन्त्र है, फिर भी बाल-विवाह करनेवाले, शराब पीनेवाले या आत्म-हत्या करनेवाले को क़ानून दण्ड देता है। सरकारी क़ानून मानना नागरिक का कर्तव्य है, फिर भी भारतीय काँग्रेस सत्याग्रह या भद्रअवज्ञा का युद्ध छेड़ देती है।

ऐसे सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं, जब कि कर्तव्यों में संघर्ष पैदा होता है और कर्तव्य का निर्णय करना कठिन होजाता

है। कर्तव्य की क्या कसौटी है, यह मालूम नहीं होता।

कर्तव्य की कसौटी पर कई विचारकों ने अपने-अपने पहलू से विचार किया है। लोकमान्य तिलक ने भी गीतारहस्य के आधिभौतिक सुखवाद के प्रकरण में इस विषय की चर्चा की है। उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी विद्वानों के मत देकर उनकी आलोचना की है। मैं फ़िलासफ़ी के इस पेचीदा झगड़े में नहीं पड़ना चाहता। लेकिन एक वाद की ओर तुम्हारा ध्यान अवश्य खींचना चाहता हूँ। शायद इसका ज़िक्र पहले भी कर चुका हूँ। इस सिद्धान्त के जनक हैं बैन्थम, मिल आदि पश्चिमी विद्वान्। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी कर्तव्य की कसौटी है: "अधिकांश लोगों का अधिक सुख" (Greatest good of greatest number)। इस कसौटी से हमारी बहुत-सी समस्यायें हल होजाती हैं। ऊपर लिखे कुछ उदाहरणों में अनेक उदाहरणों का जवाब इस कसौटी से मिल जाता है। चोर या हत्यारे को दण्ड इसलिए दिया जाता है कि उससे आम जनता में बेफ़िक्री हो, उनका जान-माल सुरक्षित रहे। माँ की अपेक्षा देश या जाति का हित सदा अधिक लोगों के सुख का कारण होगा। आत्महत्या से एक व्यक्ति की ज़रूर जान गई, लेकिन इससे मेवाड़ राज्य पर से विपत्ति चली गई। शहर को आग लगा देने से सम्पत्ति अवश्य नष्ट हुई, लेकिन उससे सब नगर-निवासी तो बीमारी से बच गये। फलों में एक गला सेव सबको गला देता है, इसलिए उसे निकाल दिया जाता है; इसी तरह कोढ़ या तपेदिक के रोगी को उसकी इच्छा के विरुद्ध भी घर से निकालकर शहर से दूर सेनिटोरियम में भेजना पड़ता है या बदमाश को समाज में से पृथक् करना पड़ता है। 'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्' के श्लोक का

भी यही अर्थ है। एक निरंकुश राजा प्रजा पर तरह-तरह के ज़ुल्म करता है, कुछ लोगों के सुख के लिए प्रजा के अधिकारों और सुखों का बलिदान करने में संकोच नहीं करता। तब इस कसौटी से उसके विरुद्ध विद्रोह किया जा सकता है और आवश्यकता होने पर उसे संसार से भी हटाया जा सकता है। हमारे शास्त्रकारों ने भी, जैसा कि मैं अभी लिख आया हूँ, 'यद्भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमितिधारणा' कहकर सर्वभूतहित को ही 'सत्य' बताया है। वनपर्व में ही दूसरी जगह 'अहिंसा' का लक्षण भी 'सर्वभूतहित' बताया है।

'अधिकांश लोगों के अधिक सुख' की कसौटी से हम कुछ दूर तक भले ही जासकें, लेकिन इससे आख़िर तक नहीं चला जा सकता। इसका एक ही उदाहरण काफ़ी होगा।

ऋषि दयानन्द या और कोई समाज-सुधारक जब अपने क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार करता है, तब वह भारी लोकमत का विरोध करता है। हज़रत ईसा के प्रचार को उस समय के लोगों ने 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख' के विपरीत बताकर ही रोका था और उन्हें शूली की सज़ा दी थी। आज हिटलर या मुसोलिनी आम लोगों के अधिकारों को कुचलकर और इस तरह 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख' की मोटे तौर पर उपेक्षा करके शासन कर रहे हैं। पर ईसा या मुसोलिनी का विरोध उस समय के यूरोप और वर्तमान इटली के लिए हानिप्रद ही साबित होता। सीमान्त के कबीले वाले एक हिन्दू कन्या का अपहरण कर लेते हैं। उस एक कन्या के लिए सौ-दोसौ या ज्यादा कबीलेवालों को भी कभी-कभी दण्ड देना पड़ता है।

ऐसा अवसर आ सकता है, जब किसी भी देश का बहुमत किसी

कारण अन्याय करने लगा हो, तब उसका विरोध भी ज़रूरी फ़र्ज़ होजाता है। पाण्डव अपनी सेना से अधिक कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना का नाश करके ही राज्य प्राप्त कर सके।

फिर इस वाद में एक और भी दोष है कि सुख की व्याख्या स्पष्ट नहीं है। भौतिक सुख या आध्यात्मिक सुख? बहुत दफ़ा मनुष्य अपने यश या कीर्ति, देश, कुल या धर्म के अभिमान के लिए बहुत-से काम करता है। इसी तरह बहुत दफ़ा क्रिया की अपेक्षा हृदय को कसौटी मानना पड़ता है। एक हत्यारे के किसीको मारने में और एक स्त्री के सतीत्व-रक्षा के लिए किसीपर गोली चलाने में क्रिया के एक होते हुए भी पहले को फाँसी मिलेगी और दूसरे को उसके वीर कार्य के लिए बधाई।

लोकमान्य तिलक ने कर्तव्याकर्तव्य की कसौटियों का विवेचन करते हुए बताया है कि मनुष्य-जाति में परोपकार, दया, उदारता, दूरदृष्टि, तर्क, धैर्य, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह आदि सात्त्विक गुण हैं। इन सब गुणों का 'मनुष्यत्व' से हम निर्देश कर सकते हैं। जो कर्म सब मनुष्यों के मनुष्यत्व या मनुष्यपन को शोभा दे, या जिस कर्म से मनुष्यत्व की वृद्धि हो, वही सत्कर्म और नीतिधर्म है। और जब हम इस बात का सूक्ष्म विचार करने लगेंगे कि मनुष्यपन या 'मनुष्यत्व' का यथार्थ स्वरूप क्या है, तब याज्ञवल्क्य के कथनानुसार "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" आत्मबुद्धि और आत्मज्ञान आवश्यक हैं। आत्म-ज्ञानी अपने 'स्व' का विकास करते-करते अपना दायरा बहुत विस्तृत कर लेता है। उसका 'स्व' केवल संसार के मानवमात्र तक ही नहीं— 'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः सम-दर्शिनः' प्राणिमात्रतक विस्तृत होजायगा। उसके लिए यह सारा संसार ही

आत्मा है—"लोको वै अयमात्मा।" जिस कार्य में भेद-भाव न रखकर समता का आदर्श हो, स्वार्थ-परार्थ का भेद न हो, वही कर्तव्य है। अग्नि निस्स्वार्थ भाव से जलाती है—उसका स्वभाव जलाना है, इसी तरह परोपकार एक महान् आत्मा का स्वभाव बनजाता है। वह दुष्टों को दण्ड भी इसी स्वभाव से प्रेरित होकर देता है और सज्जनों की रक्षा भी इसी भाव से करता है। वह तमाम दुनिया को कुटुम्ब समझता है। एक माँ अपने सभी बालकों को एक-सा देखती है, जब कोई शरारत करता है तब उसे दण्ड भी देती है और दो मिनट बाद उससे फिर प्रेम करने लगती है। उसकी ताड़ना में द्वेष-बुद्धि नहीं होती। इसी तरह एक आत्मज्ञानी पुरुष संसार में रहकर राजकार्य करता हुआ भी निस्स्वार्थ और निष्काम रह सकता है।

महात्मा गांधी के मत के अनुसार एक अन्यायी शासन का विरोध या उसके प्रति विद्रोह एक व्यक्ति की अपनी उन्नति के लिए भी आवश्यक है। उनकी विचार-धारा का प्रवाह कुछ इस तरह है : व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध इस प्रकार का है कि उसमें व्यक्ति की प्रगति अपने समाज की साधारण धर्म-प्रगति से बहुत अधिक आगे नहीं हो सकती। इस कारण कोई व्यक्ति यदि अपने चारों ओर प्रचलित अधर्म (विदेशी सरकार या अत्याचारपूर्ण शासन भी अधर्म है) की ओर से आँखें मूँदेगा, तो वह अपनी अतिशय आध्यात्मिक उन्नति न कर सकेगा। इस प्रकार व्यक्ति के लिए अपने अन्दर सत्य, अहिंसा आदि धर्मों की सिद्धि के उद्देश्य से भी अपने समाज में प्रचलित अधर्म का विरोध करना कर्तव्य होजाता है।

कर्तव्य या धर्म की गति बहुत गहन है। महात्मा गांधी सर्वभूतहित-रत हैं। उनकी कर्तव्याकर्तव्य-कसौटी भी मानवजाति का कल्याण है।

लेकिन इसके साथ ही वह साधनों की पवित्रता पर भी उतना ज़ोर देते हैं, जितना उद्देश्य पर। वह भी संसार से आर्थिक विषमता दूर करना चाहते हैं, लेकिन उसके लिए लेनिन की भांति हिंसावाद का आश्रय लेना पाप समझते हैं। वह स्वराज्य प्राप्त करने के लिए शायद प्रत्येक भारतीय से अधिक उत्सुक होंगे, लेकिन यदि एक असत्य-भाषण से भारत को स्वराज्य मिलता हो, तो वह असत्य-भाषण द्वारा उसे स्वीकार नहीं करेंगे। गांधीजी की इस विचार-धारा में और लोकमान्य तिलक की विचार-धारा में बहुत अधिक अन्तर नहीं है। दोनों यह मानते हैं कि सर्वभूतहित ही चरम उद्देश्य है और इसके लिए निष्काम व निस्स्वार्थ बुद्धि को भी दोनों अनिवार्य मानते हैं, जिसमें द्वेष या किसीको दुःख देने की प्रवृत्ति न हो। अन्तर केवल यह है कि लोकमान्य तिलक के अनुसार अग्नि या रुद्र परमात्मा की भांति शारीरिक हिंसा भी निष्काम रूप से की जासकती है। लेकिन लोकमान्य का सिद्धान्त उसी स्थिति में लागू हो सकता है, जब मनुष्य व्यक्तिगत राग-द्वेष से ऊपर उठकर सिद्ध या जीवनमुक्त हो जाय। अभी तो हमारा आदर्श म० गांधी का सिद्धान्त ही होसकता है।

मैं शायद कर्तव्याकर्तव्य के विचार में बहुत दूर, बहुत गहरा चला गया। इतनी दूर जाने की मेरी इच्छा न थी। मेरा ख़याल तो नागरिकशास्त्र के अपवादों की ओर तुम्हारा ध्यान खींचना मात्र था।

: २१ :

सत्यं शिवं सुन्दरं

२७-७-३८

आज से तीन महीने पहले मैंने तुम्हें जो पत्रमाला लिखनी शुरू की थी, वह समाप्त होने लगी है। इन पत्रों में मैंने नागरिकों के अधिकार और कर्तव्यों का विचार करने की कोशिश की है। शुरू के कुछ पत्रों में मैंने नागरिक के अधिकारों पर ज़ोर दिया है; तो पिछले पत्रों में नागरिक के कर्तव्यों पर। इस सब पर यदि हम और अधिक अन्दर जाकर विचार करेंगे, तो कर्तव्य और अधिकार में कोई मौलिक अन्तर नहीं दीखता। जो एक के कर्तव्य हैं, वह दूसरे के अधिकार हैं। जो एक के अधिकार हैं, वह दूसरे के कर्तव्य है। एक का दूसरे को जीने देना कर्तव्य है, तो जीना दूसरे का अधिकार है। जब हम अपने लिए कोई चीज़ चाहते हैं, उसे अधिकार कह देते हैं; और जब वही चीज़ दूसरे को देते हैं, तब उसे कर्तव्य कह देते हैं। मनु ने धर्म का एक लक्षण 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' किया है। इसका भी यही मतलब है। कर्तव्य क्या है? जो अपनेको प्रिय हो। मैं जीना चाहता हूँ, मैं स्वतन्त्र रहना चाहता हूँ, मैं अपना विकास चाहता हूँ। मैं दूसरे को भी जीने दूँ, स्वतन्त्र रहने दूँ और विकास करने दूँ। यही मेरा कर्तव्य है। इस उसूल पर व्यक्तियों की, समाजों की, देशों की और विश्व की प्रायः सभी समस्याओं का हल होजाता है। इस कर्तव्य की साधना में—दूसरे के अधिकार की रक्षा में सर्वभूतहित का सिद्धान्त काम करता है। जब मनुष्य प्राणिमात्र में आत्मबुद्धि देखता है, तब हिंसा,

चोरी, डाका, दूसरे के अधिकार या धन के अपहरण का अवसर ही नहीं आता। विश्वबन्धुत्व की भावना में स्वार्थत्याग का तत्त्व छिपा हुआ है। विश्वबन्धुत्व का मंत्र सिद्ध कर लेने पर न इटली अबीसीनिया पर आक्रमण करेगा, न चीन जापान पर, और न ब्रिटेन भारत पर शासन करेगा। सब मुल्क एक होंगे, एक-दूसरे के दुःख-सुख में शामिल होंगे। विश्वबन्धुत्व का मंत्र सिद्ध कर लेने पर—अधिकार और कर्तव्य का समन्वय कर लेने पर, न कोई अछूत रहेगा और न कोई अत्याचार-पीड़ित। राबर्ट जी० इंगरसोल ने एक आदर्श समाज की कल्पना की थी, उसके कुछ अंश देकर इस पत्र को समाप्त करूँगा। वे लिखते हैं:—

"मैं सुखी गृहस्थों के शान्तिमय चक्की-चूल्हों से भरा-पूरा एक ऐसा समाज देख रहा हूँ, जो पृथ्वीतल पर सबसे अग्रगामी है। मैं एक ऐसा समाज देख रहा हूँ, जिसमें दासत्व का नाम तक नहीं है, जिसमें प्रत्येक मनुष्य स्वाधीनता और आनन्द के साथ विचरण कर रहा है।...... मैं एक ऐसा समाज देख रहा हूँ, जिसमें सोने के सिंहासन चकनाचूर पड़े हुए हैं और अत्याचारी तथा निरंकुश शासक खाक में मिल गये हैं। मैं देखता हूँ कि आलस्यमय सत्तावाद संसार से उठ चुका है।

"मैं सभी प्रकार की कलाओं से सजा हुआ एक सुखमय समाज देख रहा हूँ, जिसका वायुमण्डल संगीत की असंख्य रागिनियों से गूँज रहा है और प्रत्येक मनुष्य के ओष्ठों पर सत्य और प्रेम से सने शब्द केलि कर रहे हैं। मेरा संसार निर्वासन की आहों से और कारावास के शोकजनित उद्गारों से अनभिज्ञ है। मेरे संसार में फाँसी की छाया नहीं पड़ती। इस दुनिया में मिहनत का पूरा फल मिल जाता है।

"मैं एक ऐसा समाज देख रहा हूँ, जिसमें कोई दीनतापूर्वक हाथ

पसारे नहीं खड़ा है, जहाँ दरिद्र अपना करुणाजनक विलाप नहीं सुना रहा है, जहाँ झूठ व कृपणता के नीले होठ भी नहीं दिखाई देते और न उपालंभ की क्रूर दृष्टि है।

"मैं शरीर और मस्तिष्क के रोगों से रहित एक जाति को देख रहा हूँ। सारी-की-सारी जाति स्वस्थ और सुन्दर! शारीरिक सौन्दर्य और मानसिक औदार्य मानों गठजोड़ा बाँधे खड़े हैं।"

ऐसा समाज बनाने के लिए मानव-समाज को अभी बहुत दूर तक चलना होगा—बहुत प्रयत्न करना होगा। इसके लिए लोकमान्य तिलक के कथनानुसार पहले कुल, जाति और देशाभिमान की मंज़िलें बनानी होंगी, पहले निचली सीढ़ियों पर चलना होगा या पहले छोटे वृत्तों को पार करना होगा। और अभी तो हम भारतीयों को इन्हीं मंज़िलों को बनाना है। हम भारतीय, जो कुटुम्ब, नगर या देश के प्रति ही अपने कर्तव्य नहीं जानते, विश्वबन्धुत्व की कल्पना करने लगें, यह मज़ाक नहीं तो क्या है? हमारा उद्देश्य अवश्य ऊँचा है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपने नज़दीक के पहले कर्तव्यों की उपेक्षा कर जावें। अभी तो हम लेना ही नहीं जानते, हमें लेना भी सीखना है और देना भी। हम अपने नागरिक अधिकारों को पहचानें, उन्हें लेने का प्रयत्न करें और उसके साथ कर्तव्यों की भी उपेक्षा न करें। अधिकार और कर्तव्य के समन्वय से ही 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की उत्पत्ति होगी, जो हमारा उद्देश्य है।

अभी डाकिये ने लाकर तुम्हारा पत्र दिया है। माँ बिस्तरे से उठ बैठी हैं, यह जानकर दिल बहुत खुश हुआ। उनके चरणों में मेरा प्रणाम। अब दो-चार दिन में स्वयं आकर उनके दर्शन करूँगा और तुम्हारा काम भी देखूँगा। यह पत्रमाला भी अब ख़ात्मे पर ही है।

: २२ :

भारतीय नागरिक के क़ानूनी अधिकार

३०-७-३८

नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों के बारे में मैं जो-कुछ कहना चाहता था, प्रायः सब संक्षेप से पिछले पत्रों में लिख चुका हूँ। अब ज़्यादा लिखने की ज़रूरत नहीं, लेकिन एक विषय की ओर तुम्हारा ध्यान ख़ास तौर पर खींचना चाहता हूँ। हरेक देश में प्रजा को जो क़ानूनी अधिकार प्राप्त हैं, उनका ज्ञान प्रजा को अवश्य रखना चाहिए। इस दृष्टि से प्रत्येक भारतीय नागरिक को भी देश के क़ानूनों का साधारण ज्ञान अवश्य होना चाहिए। क़ानून बहुत पेचीदा विषय है—ख़ासकर आजकल, जबकि वकील उनका अभिप्राय निकालने के लिए बहुत खींचातानी करते हैं और शब्दों से बिलकुल भिन्न अर्थ तक निकाल देते हैं; फिर भी संक्षेप से मैं कुछ ख़ास क़ानूनों की ओर तुम्हारा ध्यान खींचना चाहता हूँ।

साधारणतः मारपीट, किसीको चोट पहुँचाना, किसीको पकड़ लेना या उसे जान से मार देना जुर्म है। इसके अलावा और भी सैकड़ों जुर्मों का भारतीय दण्ड विधान में ज़िक्र है। लेकिन इसके कुछ महत्त्वपूर्ण अपवाद भी हैं। नीचे लिखी हालतों में इण्डियन पिनल कोड की ७६ से १०६ तक की धाराओं में ये काम जुर्म नहीं माने जाते :—

१. सेनापति की क़ानून के अनुसार दी हुई आज्ञा पाकर एक सैनिक किसी पर गोली चला सकता है।

२. अदालत के जज अपने न्यायसम्बन्धी कार्य में कोई भी काम करें तो वे किसी जुर्म के दोषी नहीं, चाहे क़ानूनन उनको ऐसा करने का इख्तियार न भी हो, लेकिन शर्त यह है कि सच्चे दिल से उनका विश्वास हो कि उनको ऐसा काम करने का कानूनन अख्तियार है।

३. अदालत की आज्ञानुसार किया हुआ कोई भी कार्य जुर्म नहीं, चाहे अदालत की वह आज्ञा ग़ैर-कानूनी ही क्यों न हो, बशर्ते कि कार्य करनेवाला सच्चे दिल से यह समझता हो कि अदालत को ऐसी आज्ञा देने का अधिकार है।

४. आकस्मिक दुर्घटना के कारण। एक शख्स कुल्हाड़े से लकड़ी काट रहा है। कुल्हाड़ा अकस्मात् दस्ते से अलग होकर पास खड़े हुए किसीपर जा गिरता है और उसकी चोट से वह मर जाता है।

५. किसी भारी नुक़सान को बचाने के इरादे से कोई काम करने पर। शहर के एक भाग में आग लगी है। आग को बढ़ने से रोकने के लिए यदि कुछ घरों को गिराना पड़े तो यह जुर्म नहीं, बशर्ते कि ऐसा करना बिलकुल ही आवश्यक हो और ऐसा करनेवाला जानोमाल की हिफ़ाज़त के लिए ऐसा काम नेकनीयती से करे।

६. ७ साल से कम उम्र के या १२ साल तक के ऐसे बच्चे से, जिसका दिमाग़ व दिल इतना विकसित न हुआ हो कि वह अपने किये हुए का मतलब समझ सके, किया गया कोई जुर्म।

७. जिसका दिमाग़ ठिकाने नहीं है, ऐसे पागलपन की अवस्था में कोई जुर्म करने पर भी जुर्म नहीं माना जाता।

८. शराब आदि के नशे में कोई काम करने पर, लेकिन जब शराब आदि नशा अपनी इच्छा से या अपनी जानकारी में न लिया

हो, किसी दूसरे ने धोखे से या ज़बर्दस्ती नशा पिला दिया हो।

९. क्रिकेट, फ़ुटबाल या कुश्ती आदि खेलों में सभी खिलाड़ी खतरा उठाकर भी खेलते हैं। खेल-खेल में गिरकर या मर्मस्थान पर गेंद लगने से कोई मर जाता है, या घायल होजाता है, तो गिराने या गेंद मारनेवाला अपराधी नहीं होगा, बशर्ते कि उसका इरादा जान लेने या सख़्त चोट पहुँचाने का न हो और उसको इस बात का ज्ञान न हो कि ऐसा करने से उस शख़्स के मरने या उसे सख़्त चोट पहुँचने की कोई सम्भावना है और उस शख़्स की अवस्था १८ वर्ष से कम न हो।

१०. किसी के उपकार की इच्छा से कोई काम करने पर। एक डाक्टर रोगी के भले के लिए आपरेशन करता है, लेकिन मरीज़ आपरेशन के समय मर जाता है, तो डाक्टर मुजरिम साबित नहीं होगा। एक डाक्टर गर्भवती की प्राण-रक्षा की आवश्यकता से तो गर्भ गिरा सकता है, परन्तु दूसरी अवस्था में नहीं, चाहे उसमें गर्भवती की अपनी रज़ामन्दी भी क्यों न हो। एक व्यक्ति को शेर ने पकड़ लिया है। उसे बचाने के लिए दूसरे शख़्स ने शेर पर गोली चलाई, लेकिन गोली शेर को न लगकर उसी आदमी को लगी, तो भी कोई जुर्म साबित नहीं होगा, क्योंकि उसका इरादा हत्या का नहीं, प्राण-रक्षा का था।

११. मृत्यु का भय दिखाने पर कत्ल के सिवा कोई जुर्म करने पर। डाकू एक लुहार को डरा-धमकाकर उसे अपने औज़ारों से एक मकान का ताला तोड़ने के लिए लाचार करें, तो वह अपराधी नहीं माना जायगा, क्योंकि उसने प्राणभय से ऐसा काम किया।

१२. बहुत ही हलकी चोट या नुक़सान पहुँचाने पर, जिसे साधारण बुद्धि का कोई भी व्यक्ति महत्त्व न देगा, जुर्म नहीं होता। एक व्यक्ति ने सरकारी पेड़ से, जो बंजर ज़मीन पर खड़ा था, कुछ पत्ते तोड़ लिये जिनकी क़ीमत छदाम भी न होगी। उसने कोई जुर्म नहीं किया।

१३. इन सब अपवादों से अधिक महत्त्वपूर्ण अपवाद है आत्म-रक्षा का अधिकार। आत्म-रक्षा के लिए किया गया कोई काम क़ानून की नज़रों में कोई जुर्म नहीं है। क़ानून के अनुसार प्रत्येक नागरिक को अपने या किसी दूसरे के प्राणों की हत्या आदि से व माल की चोरी, डाके आदि से रक्षा करने का अधिकार है। लेकिन दो-तीन बातों का ख़याल रखना चाहिए। पहले यह अच्छी तरह देख लेना चाहिए कि दरअसल उसकी जान जाने का भय है भी या नहीं, क्योंकि यह साबित करने की ज़िम्मेदारी उसीपर है कि दरअसल उसकी जान जाने का मौक़ा आगया था और इसीलिए उसे अपनी जान बचाने के लिए दूसरे पर वार करना पड़ा। फिर दूसरे पर कम-से-कम ख़तरनाक वार, जितना अपनी रक्षा के लिए ज़रूरी हो, करना चाहिए। एक दुर्बल स्त्री को चोरी करते समय जान से मार देना जुर्म है। अगर कोई अफ़सर या कर्मचारी अपने अफ़सर या अदालत की आज्ञा से किसीको गिरफ्तार करते हों या फांसी की सज़ा देते हों, तो उस समय आत्म-रक्षा का यह अधिकार प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। स्त्री पर बलात्कार के समय या स्त्री और बच्चे के अपहरण के समय, या घातक प्रहार के समय, दूसरे पर घातक प्रहार तक करने की क़ानून अनुमति देता है, लेकिन यह हमेशा ख़याल रखना चाहिए कि प्रहार कम-से-कम ख़तरनाक हो। अन्य अव-

स्थाओं में घातक प्रहार की इजाज़त क़ानून नहीं देता। जान या माल के नुक़सान का अन्देशा समाप्त होनेपर कानून उपर्युक्त अधिकार ले लेता है। डाके, घर में रात को सेंध, शरारत से मकान, जहाज़ आदि को आग लगाना, चोरी या ऐसी शरारत के समय, जिससे जान तक जाने का अन्देशा हो, दूसरे को जान से मार तक डालने की इजाज़त कानून देता है। लेकिन चोरी व शरारत आदि की अन्य अवस्थाओं में अपराधी की जान लेने का अधिकार नहीं है, यद्यपि अपराधी को और तरह का नुक़सान पहुँचाया जा सकता है।

इसके अलावा भी बहुत-से क़ानून हैं। इंग्लैण्ड के 'हैबियस कार्पस' का ज़िक्र मैं किसी पत्र में कर चुका हूँ। भारत में भी यह कानून लागू है, यद्यपि उसी रूप में नहीं। भारत-सरकार ने भारतीयों के दमन के लिए बंगाल स्टेट प्रिज़नर्स रेगुलेशन १८१८, मद्रास रेगुलेशन (२) १८१६, बम्बई रेगुलेशन (३५) १८२७, स्टेट प्रिज़नर्स एक्ट १८५०, व १८५८ और बंगाल क्रिमिनल ला एमेण्डमेण्ट एक्ट १९२५ (दूसरी धारा) आदि क़ानून बना रक्खे हैं। इन कानूनों के मातहत गिरफ्तार शख़्स पर 'हैबियस कार्पस' का क़ानून लागू नहीं होता। यह नियम पुलिस व अन्य हाकिमों की जनता पर अनुचित कार्रवाइयों पर नियन्त्रण रखने के लिए बनाया गया है। इसके अनुसार पुलिस का फ़र्ज़ है कि हरेक गिरफ्तार व्यक्ति को अदालत में हाज़िर किया जाय और उसके बारे में अदालत की हिदायतें मानी जायें। किसी गिरफ्तार शख़्स को छोड़ने की अदालत आज्ञा दे सकती है। यदि अभियुक्त यह समझे कि एक अदालत में उसके न्याय की सम्भावना नहीं है तो वह हाईकोर्ट को अदालत बदलने की दरख़ास्त दे सकता है। इसी तरह अभियुक्त पुलिस के दुर्व्यवहार की अदालत से शिकायत

कर सकता है और यह दरख़ास्त कर सकता है कि मुझे पुलिस की मातहती से हटाकर अदालती हवालात में रक्खा जाय, जहाँ पुलिस उससे दुर्व्यहार न कर सके, उसे तंग न कर सके।

साधारणतया क़ानून अभियुक्त को वे सब सहूलियतें देता है, जिनसे वह अपनेको निर्दोष साबित कर सके। एक शख़्स को पुलिस ने किसी जुर्म के सन्देह में गिरफ़्तार कर लिया है। वह यदि चाहे, तो अपना मुक़दमा लड़ने के लिए वकील को हवालात में बुला सकता है और उससे सलाह-मशविरा कर सकता है। अधिकारियों को इसकी व्यवस्था करनी होगी। जबतक किसी शख़्स को सज़ा नहीं मिलती, वह मुजरिम नहीं समझा जा सकता और हवालात में उससे क़ैदी का-सा व्यवहार नहीं किया जा सकता। वह अपने कपड़े रख सकता है, अपना भोजन मंगा सकता है। लेकिन पुलिस उसे ऐसा काम करने नहीं देगी, जिससे वह पुलिस की जाँच में अड़चन पैदा कर सके। यदि उसपर अभियोग बहुत संगीन नहीं है, या उसकी जाँच में अड़चन का कोई अन्देशा नहीं है, तो पुलिस अधिकारी या अदालत उसे जमानत या ज़ाती मुचलका लेकर इस शर्त पर रिहा कर सकते हैं कि उसे निश्चित दिन अदालत में हाज़िर होना पड़ेगा और तबतक वैसा अपराध फिर न करने की ज़मानत देनी होगी। मुकदमे की प्रारम्भिक कार्रवाई के बाद जब अदालत अभियुक्त पर फ़र्द-जुर्म लगाती है, तब अभियुक्त का हक़ है कि वह उसे बाक़ायदा समझाया जाय और उसकी एक नक़ल उसे बिना मूल्य दी जाय। इसी तरह फैसले की भी नक़ल उसे अदालत से लेने का अधिकार है। अगर किसी अदालत से अभियुक्ति को किसी कारण न्याय की आशा न रही हो, तो वह हाईकोर्ट में यह दरख़ास्त दे सकता है कि इस अदालत से मुकदमा बदला जाय,

लेकिन उसे वह कारण भी बताना पड़ेगा कि जिससे अदालत पर वह अविश्वास करता है। यदि एक मातहत अदालत का फैसला किसीको पसन्द नहीं है, तो उसे यह अधिकार है कि वह उससे ऊँची अदालत में न्याय प्राप्त करने के लिए अपील करे और उससे भी असंतुष्ट होने पर उससे ऊँची अदालत में वह अपील कर सकता है।

प्रत्येक ज़िले की अदालतें तीन किस्मों में बाँटी गई हैं—दीवानी, फ़ौजदारी और माल। दीवानी अदालत का हाकिम सबजज, सिविल-जज या मुंसिफ़ कहलाता है। इनमें भी कई दर्जे होते हैं और वे ख़ास हदतक के ही मुकदमे सुन सकते हैं। इन सबके फैसलों की अपील या तो ज़िला-जज के यहाँ होती है या सीधी हाईकोर्ट में। दिल्ली में ५,०००) से कम के मुकदमों की अपीलें ज़िला-जज के यहाँ और इससे ऊपर की हाईकोर्ट में होती हैं। ज़िला-जज के फैसलों की अपील हाईकोर्ट में होती है और हाईकोर्ट के फैसलों की प्रिवी-कौंसिल में, बशर्ते कि मुकदमा आमतौर पर १०,०००) से ज्यादा का हो। अदालत खफ़ीफ़ा के फैसलों की निगरानी सीधी हाईकोर्ट में होती है। मद्रास, बम्बई और कलकत्ता के शहरों में ज़िला-जज का काम हाईकोर्ट के ही सुपुर्द रहता है। फौजदारी अदालत का हाकिम मजिस्ट्रेट कहलाता है। इनमें भी तीन किस्में होती हैं, और वे ख़ास हदतक के ही फैसले कर सकते हैं। ज़िले भर के सब मजिस्ट्रेटों के ऊपर एक ज़िला-मजिस्ट्रेट होता है। ज़िले में अमन-चैन रखना भी इसीका काम होता है, और इसलिए ज़िले का पुलिस-विभाग भी इसके मातहत होता है। सेकण्ड व थर्ड क्लास के मजिस्ट्रेटों के फैसलों की अपीलें आमतौर पर ज़िला-मजिस्ट्रेट या किसी फ़र्स्टक्लास मजिस्ट्रेट के यहाँ होती हैं और बाक़ी सब मुकदमों की दौराजज के

यहाँ। दौरा जज भारी से भारी सज़ा देसकता है, लेकिन फाँसी की सज़ा के लिए हाईकोर्ट की मंजूरी लेने की ज़रूरत होती है। दौरा जज के फ़ैसलों की अपील हाईकोर्ट में होती है। फ़ौज़दारी मुकदमों में दीवानी मुकदमों की तरह एक के बाद एक अपील नहीं होसकती। अलबत्ता क़ानूनी नुकतों के ऊपर हाईकोर्ट में निगरानी हो सकती है। माल की अदालतों के हाकिम तहसीलदार, डिप्टीकलक्टर या असिस्टेण्ट कलक्टर कहलाते हैं। ये हाकिम अदालती हैसियत में ज़मीदारों व किसानों के मुकदमे करते हैं और अफ़सरी हैसियत से मालगुज़ारी वसूल करते हैं। कलक्टर ज़िले-भर में इन सबके ऊपर होते हैं। इनके फैसलों की अपीलें या तो कलक्टर के यहाँ होती हैं या कमिश्नर के यहाँ। कमिश्नर के ऊपर अपील बोर्ड आफ़ रेवेन्यू में की जाती है। कुछ प्रान्तों में यह स्थान फ़ाइनेंशल कमिश्नर या रेवेन्यू कमिश्नर को मिला हुआ है।

राजनीतिशास्त्र और नागरिकशास्त्र का तक़ाज़ा है कि हर मुल्क में न्याय और शासन के विभाग अलग-अलग हों। अधिकारियों के अनुचित निर्णय के विरुद्ध प्रजा को यह अधिकार होना चाहिए कि वह उनके विरुद्ध अदालत में कार्रवाई कर सके। भारत में ये दोनों विभाग पूरे तौर पर अलग नहीं हैं। अदालत और शासन का काम अधिकांश तौर पर एक ही व्यक्ति के हाथ में होता है। एक ही शख़्स डिप्टी-कमिश्नर के नाते कोई कार्रवाई करता है, ज़िला-मजिस्ट्रेट के नाते उसके विरुद्ध शिकायत सुनता है। माल-अफ़सर ही लगान-बन्दोबस्त लगाता है और वही अपने बरख़िलाफ़ की गई दरख़ास्त सुने, यह कुछ विचित्र-सा है, लेकिन यह भारतीय शासन का दोष है। फिर भी प्रजा को अधिकार है कि किसी अनुचित

कार्रवाई के विरुद्ध वे हाईकोर्ट में अपील कर सकते हैं। ज़िला-मजिस्ट्रेट या प्रान्तीय सरकार किसी अख़बार या पुस्तक के प्रकाशन को आपत्तिजनक करार देकर प्रेस-ऐक्ट के मातहत ज़मानत माँगते या उसे ज़ब्त करते हैं, तो लेखक, सम्पादक या प्रकाशक हाईकोर्ट में उसके विरुद्ध अपील कर सकते हैं। ऐसी कोई दरख़ास्त हाईकोर्ट का एक बेंच, जिसमें तीन जज होंगे, सुनेगी।

दौरा सुपुर्द किये जानेवाले मुकदमों में प्रत्येक अभियुक्त को अधिकार है कि उसका मुक़दमा जज द्वारा जूरी या असेसरों की सहायता से सुना जाय। असेसर तो जज को सलाह मात्र दे सकते हैं, लेकिन जूरी का बहुमत अदालत को मानना ज़रूरी है। अभियुक्त जूरी के लिए दरख़ास्त कर सकता है, और अभियुक्त यदि किसी जूरी के किसी सदस्य के लिए यह समझे कि वह किसी भी कारण निष्पक्ष नहीं हैं तो वह उसे बदलने का अनुरोध भी कर सकता है। असेसरों की संख्या तीन-चार तक होती है, जबकि जूरी के सदस्य ५-७ या ९ होते हैं। ऐसे किसी भी अभियोग में जिसकी सज़ा मौत हो, ७ और संभव हो तो ९ जूरी-सदस्य होने चाहिएं।

साधारणतः सभी मामलों में अभियुक्त सफ़ाई देने के लिए वकील नियत करता है, लेकिन बहुत दफ़ा गरीब अभियुक्त ग़रीबी की वजह से वकील नहीं भी कर सकता। यदि कोई ऐसा अभियोग पेश हो, जिसकी सज़ा मौत हो, तो वह महज़ अपनी ग़रीबी की वजह से सफ़ाई न दे सके और मौत की सज़ा पाये, इससे बचने के लिए सरकार का फ़र्ज़ है कि अपने व्यय से उसके लिए योग्य वकील नियत करदे। इसी तरह अगर कोई अभियुक्त अपनी सफ़ाई देने के लिए किन्हींको गवाह के तौर पर बुलाना ज़रूरी समझता है, तो

अदालत का फ़र्ज़ है कि वह उसे बुलाने की व्यवस्था करे। लेकिन अदालत को भी यह अधिकार है कि वह किसीकी गवाही को अनावश्यक समझकर बुलवाने से इन्कार करदे। इस तरह इन नियमों द्वारा यह व्यवस्था करने का प्रबंध किया गया है कि अभियुक्त अपनेको निर्दोष सिद्ध करने के बहुत-से अवसर पा सके।

बहुत दफ़ा हाकिम या पुलिस-अधिकारी किसीको गिरफ़्तार कर लेते हैं या उसके घर की तलाशी लेने लगते हैं। इस संबंध में भी नागरिकों को कुछ अधिकार प्राप्त हैं, जिनका वे उपयोग कर सकते हैं। जिन मामलों में पुलिस किसी को बिना वारंट गिरफ़्तार करती है, उनमें पुलिस का यह फ़र्ज़ है कि २४ घण्टे के अन्दर-अन्दर वह किसी मजिस्ट्रेट के सामने उसे पेश करे और यदि अभी अदालत में उसपर मुक़दमा चलाने की पूरी तैयारी न हुई हो तो उससे मुहलत माँग सकती है, लेकिन यह मुहलत एकसाथ १५ दिन से अधिक की नहीं मिल सकती। घर आदि की तलाशी लेते समय पुलिस का कर्तव्य है कि वह अदालत का सर्चवारण्ट या उच्च अधिकारी का आज्ञापत्र दिखाये। तलाशी के समय मुहल्ले के दो प्रतिष्ठित नागरिकों का रहना ज़रूरी है, जो यह साबित करें कि दरअसल कोई वस्तु घर से मिली है। तलाशी लेते समय किसीका अपमान करने का हक़ पुलिस-कर्मचारी को नहीं है। तलाशी लेनेवाले पुलिस-कर्मचारियों के बारे में यह तसल्ली कर लेनी चाहिए कि उनके पास तो वह आपत्तिजनक वस्तु नहीं है, जिसकी वे तलाश कर रहे हैं।

क़ानून का विषय बहुत पेचीदा है और इसकी भूलभुलैया में गहरा जाना बहुत स्थान की अपेक्षा रखता है। अतः मैं सिर्फ़ दो-एक नियमों का निर्देश करके ही इस अन्तिम पत्र को समाप्त करूँगा। नागरिकों

का एक प्रधान कर्तव्य अपने परिवार का पालन-पोषण है। यदि कोई नागरिक समर्थ होते हुए भी अपनी स्त्री और बच्चों का पालन नहीं करता, तो क़ानून के अनुसार स्त्री या सन्तान का अधिकार है कि पति या पिता से निर्वाह-व्यय लेने की अदालत में दरख़ास्त करे। इस स्थिति में स्त्री को यह साबित करना होगा कि मैं अमुक कारण से इसके पास नहीं रहना चाहती और मैं स्वयं दुश्चरित्र भी नहीं हूँ। इसी तरह कोई पत्नी अपने पति के बलात्कार से भी अपनी मुक्ति क़ानून द्वारा पा सकती है।

कोई शख़्स बिना किसी अपराध के दूसरे नागरिक पर मुक़दमा चला दे, इससे बचने के लिए क़ानून में दो व्यवस्थायें हैं। एक तो यह कि उसकी सफ़ाई का सारा ख़र्च वादी को देना होगा। (उसी तरह प्रतिवादी को भी अपना मामला कमज़ोर होने पर वादी का ख़र्च बरदाश्त करना चाहिए।) दूसरी व्यवस्था यह है कि प्रतिवादी झूठा मुक़दमा चलाने के लिए उससे हरजाने की माँग करे।

बदक़िस्मती से एक नागरिक की आर्थिक स्थिति बहुत ख़राब हो जाती है और वह अपनी देनदारियां कोशिश करने पर भी नहीं चुका सकता। ऐसी हालत में वह क्या करे? इसके लिए क़ानून उसे दिवाला निकालने की अनुमति देदेता है, जिससे वह अपना ज़रूरी सामान रखकर और बाक़ी सब देकर सब देनदारियों से मुक्त होसकता है।

बहुत दफ़ा हाकिम या पुलिस-कर्मचारी मानहानि के मुक़दमे पत्र-प्रकाशकों व सार्वजनिक कार्यकर्ताओं पर चलाते हैं। इस बारे में उन्हें मालूम होना चाहिए कि सार्वजनिक हित की दृष्टि से उपयोगी सत्य बात को लिखना या कहना मानहानि नहीं है। किसी सरकारी कर्म-चारी की सरकारी काम से सम्बद्ध हरकत या सार्वजनिक कार्यकर्ता

के सार्वजनिक प्रश्न से सम्बद्ध आचरण की नेकनीयती से आलोचना और अदालती कार्रवाई की सच्ची रिपोर्ट प्रकाशित करना भी मानहानि नहीं है। इसी तरह लेखक के लेख या कृति की नेकनीयती से आलोचना भी मानहानि की सीमा से बाहर है। लेकिन आलोच-नीय व्यक्ति के ख़ानगी जीवन या आचरण पर आक्षेप न हो।

रेलवे के सम्बंध में जो नियम बने हुए हैं, उनके पालन के लिए रेलवे कर्मचारियों को विवश किया जा सकता है। गाड़ी में रोशनी व पानी का प्रबंध करने और नियत संख्या से अधिक मुसाफ़िरों के होने पर गाड़ी की ज़्यादा व्यवस्था करने के लिए रेलवे-अधिकारियों को बाधित करने का हक़ प्रत्येक मुसाफ़िर को है। यदि कोई रेलवे-कर्मचारी नियत संख्या से अधिक मुसाफ़िरों को गाड़ी में जबरन बिठाने की कोशिश करे, तो क़ानूनन उसपर जुर्माना होसकता है। इसी तरह अन्य अनेक क्षेत्रों में क़ानून तो बहुत बने हुए हैं, लेकिन नागरिक उनके पालन पर ज़ोर नहीं देते, इसलिए वे न होने के बराबर होगये हैं। किसी सरकारी कर्मचारी के लिए रिश्वत लेना गुनाह है, लेकिन बीसियों जगह उनका रिश्वत लेना परम्परा के कारण आवश्यक-सा होगया है। इसका मुख्य कारण नागरिकों की अपने अधिकारों के प्रति उदासीनता ही है।

दूसरे भी बहुत-से नागरिक अधिकारों का निर्देश किया जा सकता है। मैंने तो क़ानून की प्रकृति व दिशा का परिचय भर देने की कोशिश की है। लेकिन मैं क़ानूनी अधिकारों की चर्चा के साथ ही एकबार फिर नागरिकों के कर्तव्यों की ओर भी तुम्हारा ध्यान खींचना चाहता हूँ। अधिकारों की अपेक्षा इनका महत्त्व ज्यादा है। अधिकारों और कर्तव्यों के समन्वय से ही दरअसल उन्नति हो सकती है।

परिशिष्ट—१

अल्पसंख्यक जातियों को गारण्टी

राष्ट्रसंघ में यूरोपीय राष्ट्रों की अल्पसंख्यक जातियों के हितों के बारे में कुछ धारायें बनाई गई थीं। वे अल्पसंख्यक गारण्टी संधि के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :—

धारा ७७—सरकारी नौकरियों, खिताबों, सार्वजनिक समारोहों और कम्पनियों तथा सैनिक भरतियों में सब जातियों के साथ एकसमान व्यवहार करना चाहिए।

धारा ७८—अल्पसंख्यक जातियों को भी संगठन, सभा आदि के वही अधिकार होने चाहिएँ, जो अन्य जातियों को हों।

धारा ८०—खेती, व्यापार या व्यवसाय आदि के कामों में अल्पसंख्यक जातियों से भी वही व्यवहार करना चाहिए, जो बहुसंख्यक जातियों से किया जाय। बहुसंख्यक जातियों पर लागू होनेवाले नियम ही अल्पसंख्यक जातियों पर लागू होंगे।

धारा ८१—अल्पसंख्यक जातियों को भी दान पर चलनेवाली अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक संस्थायें स्थापित करने, चलाने और नियंत्रण करने का अधिकार होना चाहिए।

कांग्रेस द्वारा आश्वासन

भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) ने भी इस सम्बन्ध में अपनी नीति की घोषणा निम्न शब्दों में की है :—

१. क—शासनविधान की मौलिक अधिकार से सम्बन्धित धारा में जातियों को यह आश्वासन भी दिया जाय कि उनकी संस्कृति, भाषा, धर्म-ग्रन्थ, शिक्षा, पेशा और धार्मिक व्यवहार तथा धर्मादे की रक्षा की जायगी।

ख—विधान में खास धारायें रखकर जातियों के निजी क़ानूनों की रक्षा की जायगी ।

ग—विभिन्न प्रान्तों में अल्पसंख्यक जातियोंके राजनैतिक तथा अन्य अधिकारों की रक्षा करना संघ-सरकार के ज़िम्मे होगा और ये काम उसके अधिकार-क्षेत्र की सीमा में होंगे ।

२. तमाम बालिग स्त्री-पुरुष मताधिकार के अधिकारी होंगे ।

३. क—भारत के भावी शासन-विधान में प्रतिनिधित्व का आधार सम्मिलत निर्वाचन होगा ।

ख—सिंध के हिन्दुओं, आसाम के मुसलमानों और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तथा पंजाब के सिक्खों और किसी भी ऐसे प्रान्त के हिन्दू और मुसलमानों के लिए, जहाँ उनकी संख्या आबादी के २५ फ़ी सदी से भी कम हो, संघीय और प्रान्तीय धारासभाओं में आबादी के आधार पर स्थान सुरक्षित रक्खे जायँगे और उनके अलावा अधिक स्थानों के लिए भी उम्मीदवार के रूप में खड़े होने का अधिकार होगा ।

४. पदों पर नियुक्तियाँ निष्पक्ष सर्विस कमीशनों के द्वारा होंगी । नौकरियों के लिए आवश्यक न्यूनतम योग्यता का निर्णय भी ये कमीशन करेंगे और कार्य के सुचारु रूप से चलने का तथा नौकरियों के लिए तमाम जातियों को समान अवसर मिले इस सिद्धान्त का, और वे बहुत कुछ योग उसमें दे सकें इस बात का, वे पूरा ख़याल रक्खेंगे ।

५. संघीय और प्रान्तीय मंत्रिमण्डल के निर्माण में अल्पसंख्यक जातियों के हित एक निश्चित प्रथा के अनुसार मान्य होंगे ।

६. पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तथा सिंध में (अलग प्रान्त बनाकर, बशर्ते कि आर्थिक दृष्टि से अनुचित न हो) अन्य प्रान्तों की-सी शासन-व्यवस्था होगी ।

परिशिष्ट—२

कांग्रेस का स्वराज्य

भारतीय कांग्रेस ने एक प्रस्ताव द्वारा स्वराज्य की एक रूप-रेखा-सी खींची थी, जिसमें प्रायः सभी नागरिक अधिकारों का ज़िक्र किया गया था। वह प्रस्ताव निम्नलिखित है :—

"साधारण जनता की तबाही का अन्त करने के उद्देश्य से यह आवश्यक है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता में लाखों भूखों मरने वालों की वास्तविक आर्थिक स्वतन्त्रता भी निहित हो। इसलिए यह काँग्रेस घोषित करती है कि उसकी ओर से स्वीकृत होनेवाले किसी भी शासन-विधान में नीचे लिखी बातों की व्यवस्था रहनी चाहिए :—

मौलिक अधिकार और कर्तव्य—(१) भारत के प्रत्येक नागरिक को प्रत्येक विषय में, जोकि कानून और सदाचार के विरुद्ध न हो, अपनी स्वतन्त्र राय प्रकट करने, स्वतन्त्र संस्थायें और संघ बनाने और बिना हथियार के शान्तिपूर्वक एकत्र होने का अधिकार है।

(२) भारत के प्रत्येक नागरिक को अन्तरात्मा का अनुसरण करने और सार्वजनिक शान्ति व सदाचार में बाधक न होनेवाले धार्मिक विश्वास और आचरण की स्वतन्त्रता है।

(३) अल्पसंख्यक जातियों और भिन्न भाषा-भाषी वर्ग की संस्कृति, भाषा और लिपि की रक्षा की जायगी।

(४) भारत के सब नागरिक क़ानून की दृष्टि में बिना किसी जाति, विश्वास अथवा लिंग के भेद-भाव के समान हैं।

(५) सरकारी नौकरियों, अधिकार व सम्मान के ओहदों और किसी भी व्यापार या धन्धे के करने में किसी भी नागरिक स्त्री-पुरुष को धर्म, जाति, विश्वास अथवा लिंग के कारण अयोग्य नहीं ठहराया जायगा।

(६) सरकारी अथवा सार्वजनिक खर्च से बने, अथवा नागरिकों द्वारा सार्वजनिक उपयोग के लिए समर्पित कुओं, सड़कों, पाठशालाओं और सार्वजनिक आवागमन के स्थानों के सम्बन्ध में सब नागरिकों के अधिकार और कर्तव्य समान हैं।

(७) हथियारों के सम्बन्ध में बनाये गये नियम और मर्यादा के अनुसार प्रत्येक नागरिक को हथियार रखने और धारण करने का अधिकार है।

(८) कानूनी आधार के बिना किसी तरह किसी भी मनुष्य की स्वतन्त्रता न छीनी जायगी और न किसीके घर और जायदाद में प्रवेश और कुर्की या ज़ब्ती की जायगी।

(९) सरकार सब धर्मों के प्रति तटस्थ रहेगी।

(१०) बालिग उम्र के तमाम मनुष्यों को मताधिकार होगा।

(११) राज्य मुफ्त और अनिवार्य्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करेगा।

(१२) सरकार किसीको खिताब न देगी।

(१३) मौत की सज़ा उठादी जायगी।

(१४) भारत का प्रत्येक नागरिक भारत-भर में भ्रमण करने, उसके किसी भाग में ठहरने या बसने, जायदाद खरीदने और कोई भी व्यापार या धन्धा करने में स्वतन्त्र होगा और कानूनी कार्रवाई व रक्षा के विषय में, भारत के सब भागों में, उसके साथ समानता का व्यवहार होगा।

२. **श्रमिक**—(क) आर्थिक जीवन के संगठन में न्याय के सिद्धान्त अवश्य सन्निहित होने चाहिएँ, जिससे जीवन-निर्वाह का एक उपयुक्त स्टैण्डर्ड प्राप्त होजाय।

(ख) सरकार कारखानों के मज़दूरों के स्वार्थों की रक्षा करेगी और उपयुक्त क़ानून द्वारा एवं अन्य उपायों से उनके जीवन-निर्वाह के लिए

पर्याप्त मज़दूरी, काम के लिए आरोग्य-प्रद परिस्थिति, मज़दूरी के घंटों की मर्यादा, मालिकों और मज़दूरों के बीच के झगड़ों के निपटारे के लिए उपयुक्त साधन और बुढ़ापा, बीमारी तथा बेकारी के आर्थिक परिणामों के विरुद्ध रक्षा का उपाय करेगी।

(३) दासत्व या लगभग दासत्व जैसी दशा से मज़दूर मुक्त होंगे।

(४) मज़दूर स्त्रियों की रक्षा और प्रसूति काल के लिए पर्याप्त छुट्टी का विशेष प्रबन्ध होगा।

(५) स्कूल में जा सकने योग्य आयु के लड़के खानों और कारखानों मे नौकर न रक्खे जावेंगे।

(६) किसान और मज़दूरों को अपने हितों की रक्षा के लिए संघ बनाने के अधिकार होंगे।

कर और व्यय–(७) ज़मीन की मालगुज़ारी और लगान का तरीक़ा बदला जायगा और छोटे किसानों को वर्तमान कृषि-कर और मालगुज़ारी में तुरन्त और यदि आराज़ी से लाभ न होता हो तो आवश्यक समय तक के लिए छूट देकर या मुक्त करके कृषकों के बोझ का न्याययुक्त निपटारा किया जायगा, और इसी उद्देश्य से लगान-अदायगी की उक्त मुक्ति और भूमि-कर की कमी से छोटी ज़मीनों के मालिकों को होनेवाली हानि की पूर्ति एक निश्चित तादाद से अधिक की भूमि की मूल आय पर क्रमशः बढ़नेवाला कर लगाकर की जायगी।

(८) एक न्यूनतम निश्चित रकम के अलावा की जायदाद पर क्रमागत विरासत कर लिया जायगा।

(९) फ़ौजी खर्च में बहुत कमी की जायगी, जिससे वर्तमान से वह कम-से-कम आधा रह जायगा।

(१०) मुल्की विभाग के व्यय और वेतन में बहुत कमी की जायगी।

खास तौर पर नियुक्त किये गये विशेषज्ञ अथवा ऐसे ही व्यक्ति के सिवाय राज्य के किसी भी नौकर को एक निश्चित रकम के सिवा, जोकि आमतौर पर ५००) मासिक से अधिक न होनी चाहिए, अधिक वेतन न दिया जायगा।

(११) हिन्दुस्तान में बने हुए नमक पर कोई कर नहीं लिया जायगा।

आर्थिक कार्यक्रम–(१२) राज्य देशी कपडे की रक्षा करेगा और इसके लिए ब्रिटिश वस्त्र और सूत को देश में न आने देने की नीति और आवश्यक अन्य उपायों का अवलम्बन करेगा। राज्य अन्य देशी धन्धों की भी, जब कभी आवश्यक होगा, विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा करेगा।

(१३) औषधियों के काम के सिवा नशीले पेय और पदार्थ सदा के लिए बन्द कर दिये जायँगे।

(१४) हुण्डावन और विनिमय का नियन्त्रण राष्ट्र-हित के लिए होगा।

(१५) मुख्य उद्योगों और विभागों, खनिज साधनों, रेलवे, जलमार्ग, जहाज़रानी और सार्वजनिक आवागमन के अन्य साधनों पर राज्य अपना अधिकार और नियन्त्रण रक्खेगा।

(१६) कृषकों के ऋण के उद्धार के उपाय और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लिये जानेवाले ऊँचे दर के व्याज पर सरकार का नियंत्रण होगा।

(१७) नियमित सेना के सिवा राष्ट्र-रक्षा का साधन संगठित करने के लिए राज्य नागरिकों की सैनिक-शिक्षा की व्यवस्था करेगा।

सस्ता साहित्य मण्डल

'सर्वोदय साहित्य माला' की पुस्तकें

१—दव्य जीवन ।=)
२—जीवन-साहित्य १)
३—तामिल वेद ।।।)
४—व्यसन और व्यभिचार ।।।=)
५—सामाजिक कुरीतियाँ (ज़ब्त) ।।।)
६—भारत के स्त्री-रत्न (तीन भाग) ३)
७—अनोखा (अप्राप्य) १।=)
८—ब्रह्मचर्य-विज्ञान ।।।=)
९—यूरोप का इतिहास २)
१०—समाज-विज्ञान १।।)
११—खद्दर का सम्पत्ति शास्त्र (अप्राप्य) ।।।≡)
१२—गोरों का-प्रभुत्व ।।।)
१३—(अप्राप्य)
१४—दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह १)
१५—चीन की आवाज़(अप्राप्य)।-)
१६—अनीति की राह पर ।।=)
१७—सीता की अग्नि-परीक्षा ।-)
१८—कन्या शिक्षा ।)
१९—कर्मयोग ।=)
२०—कलवार की करतूत =)
२१—व्यावहारिक सभ्यता ।।)
२२—अंधेरे में उजाला ।।)
२३—स्वामीजी का बलिदान (अप्राप्य) ।-)
२४—हमारे ज़माने की ग़ुलामी (ज़ब्त) ।)
२५—स्त्री और पुरुष ।।)
२६—घरों की सफ़ाई ।=)
२७—क्या करें ? १।।)
२८—हाथ की कताई-बुनाई (अप्राप्य) ।।-)
२९—आत्मोपदेश ।)
३०—यथार्थ आदर्श जीवन (अप्राप्य) ।।।-
३१—जब अंग्रेज़ नहीं आयेथे ।)
३२—गंगा गोविंदसिंह(अप्राप्य)।।=)
३३—श्रीराम चरित्र १)
३४—आश्रम-हरिणी ।)
३५—हिंदी मराठी कोष(अप्राप्य)२)
३६—स्वाधीनता का सिद्धान्त (अप्राप्य) ।।)
३७—महान् मातृत्व की ओर ।।।=)
३८—शिवाजी की योग्यता ।=)
३९—तरंगित हृदय ।।)
४०—नरमेध १।।)
४१—दुखी दुनिया ।=)
४२—जिन्दा लाश ।।)
४३—आत्म-कथा (गांधीजी) १।।)

४४—जब अंग्रेज़ आये (ज़ब्त) १।=)
४५—जीवन विकास १)
४६—किसानों का बिगुल =)
४७—फाँसी ! ।=)
४८—अनासक्तियोग—गीताबोध
(दे० नवजीवन माला)
४९—स्वर्ण विज्ञान (ज़ब्त) ।=)
५०—मराठों का उत्थान-पतन २॥)
५१—भाई के पत्र १)
५२—स्वगत (अप्राप्य) ।=)
५३—युगधर्म (ज़ब्त) १=)
५४—स्त्री-समस्या १॥)
५५—विदेशी कपड़े का
मुक़ाबला (अप्राप्य) ॥=)
५६—चित्रपट ।=)
५७—राष्ट्रवाणी (अप्राप्य) ॥=)
५८—इंग्लैण्ड में महात्माजी ॥)
५९—रोटी का सवाल १)
६०—दैवी सम्पद् ।=)
६१—जीवन-सूत्र ॥)
६२—हमारा कलंक ।=)
६३—बुदबुद ॥)
६४—संघर्ष या सहयोग ? १॥)
६५—गांधी-विचार-दोहन

६६—एशिया की क्रान्ति
(ज़ब्त) १॥)
६७—हमारे राष्ट्र-निर्माता २॥)
६८—स्वतंत्रता की ओर १॥)
६९—आगे बढ़ो ! ॥)
७०—बुद्ध-वाणी ॥=)
७१—कांग्रेस का इतिहास २॥)
७२—हमारे राष्ट्रपति १)
७३—मेरी कहानी (ज० नेहरू) २॥)
७४—विश्व-इतिहास की झलक
(जवाहरलाल नेहरू) ८)
६५—(दे० नवजीवन माला)
७६—नया शासन विधान—१ ॥)
७७—(१) गाँवों की कहानी ॥)
७८—(२-९) महाभारत के पात्र ॥)
७९—सुधार और संगठन १)
८०—(३) संतवाणी ॥)
८१—विनाश या इलाज ॥)
८२—(४) अंग्रेज़ी राज्य में
हमारी आर्थिक दशा ॥)
८३—(५) लोक-जीवन ॥)
८४—गीता मंथन १॥)
८५—(६) राजनीति प्रवेशिका ॥)
८६—(७) अधिकार और कर्तव्य ॥)